अग्निशिखा
अखिल भारतीय पत्रिका
अक्तूबर २०१७

सुन्दर जीवन की ओर
(भाग-२)

विषय-सूची

भाग-२—सुन्दर जीवन के लिए आवश्यक गुण

प्रार्थना	३
अपनी सत्ता में श्रद्धा	६
वीरता	९
लगन व अध्यवसाय	१२
भागवत शक्ति में श्रद्धा	१७
नम्रता	१९
उदारता	२१
कृतज्ञता	२४
ग्रहणशीलता	२८
सरलता	२९

भाग-३—सुन्दर जीवन के साधन

"अपने-आपको कहानी सुनाना"	३२
स्वयं को व्यवस्थित करो	३५
रामबाण	३७
जीवन का उद्देश्य	४०
सामञ्जस्यपूर्ण सामूहिकता की ओर	४४
सम्बन्धों का गभीर अर्थ	४५
सच्ची आवश्यकता	४९

'पुरोधा' :

दैनन्दिनी		५२
श्रीमाँ के साथ पत्र-व्यवहार	'श्रीमातृवाणी' से	५३
सामञ्जस्य की लहर जुड़ गयी	वन्दना	५६

प्रार्थना

१४ फरवरी १९१४

शान्ति, समस्त भू पर शान्ति!

वर दे कि सभी सामान्य चेतना से बच निकलें और जड़-भौतिक वस्तुओं के लिए आसक्ति से मुक्ति पा लें; वर दे कि वे तेरी दिव्य उपस्थिति के ज्ञान के बारे में जाग्रत् हों, तेरी परम चेतना के साथ युक्त होकर उससे उमड़ने वाली शान्ति के प्राचुर्य का रसास्वादन करें।

प्रभो, तू हमारी सत्ता का सर्वोच्च स्वामी है। तेरा विधान ही हमारा विधान है और अपनी पूरी सामर्थ्य के साथ हम अपनी चेतना को तेरी शाश्वत चेतना के साथ युक्त करने के लिए अभीप्सा करते हैं ताकि हम हर क्षण, हर वस्तु में तेरे उत्कृष्ट कार्य को चरितार्थ कर सकें।

प्रभो, हमें सभी संयोगों की चिन्ताओं से मुक्त कर, हमें वस्तुओं के बारे में सामान्य दृष्टिकोण से मुक्त कर। वर दे कि हम भविष्य में केवल तेरी ही आँखों से देखें और केवल तेरी ही इच्छा से कार्य करें। हमें अपने दिव्य प्रेम की जीवन्त मशालों में रूपान्तरित कर।

हे प्रभो, श्रद्धा और भक्ति के साथ, समस्त सत्ता के आनन्द-भरे समर्पण में मैं अपने-आपको तेरे विधान की परिपूर्ति के लिए अर्पित करती हूँ।

शान्ति, समस्त पृथ्वी पर शान्ति!

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड १, पृ. ४७

अब भी उसके नयनों में एक विस्मृत-लोक का आनन्द छिपा है,
उसके मनोभाव चिरन्तन की मुखाकृतियाँ हैं :
सौन्दर्य और प्रसन्नता उसके जन्मजात अधिकार हैं,
और अनन्त आनन्द-लोक ही उसका शाश्वत धाम है।

'सावित्री' से *—श्रीअरविन्द*

भाग दो :

सुन्दर जीवन के लिए आवश्यक गुण

क्या तुम्हें नहीं लगता कि इस संसार में कुत्सित वस्तुएँ पर्याप्त हैं और इसकी कोई आवश्यकता नहीं कि कोई व्यक्ति पुस्तकों में उनका चित्रण करे? यह चीज़ हमेशा ही मुझे आश्चर्य में डालती रही है, यहाँ तक कि जब मैं बच्ची थी तब भी—कि जीवन इतना गर्हित है, नीच, कष्टकर, यहाँ तक कि कभी-कभी घृणास्पद वस्तुओं से इतना भरा होता है, फिर भला जो चीज़ें पहले से हैं उनसे अधिक बुरी वस्तुओं की कल्पना करने से क्या लाभ? यदि तुम किसी अधिक सुन्दर वस्तु की, किसी अधिक सुन्दर जीवन की कल्पना करते तो वह कष्ट उठाने-लायक होता। जो लोग गन्दी बातें लिखने में सुख पाते हैं वे अपनी मन-बुद्धि की दरिद्रता ही सूचित करते हैं—यह सर्वदा ही मन-बुद्धि की दरिद्रता का लक्षण होता है। सच पूछो तो किसी उत्तेजनात्मक घटना या घोर विपत्ति के साथ समाप्त होने वाली कोई कहानी लिखने की अपेक्षा आदि से अन्त तक कोई सुन्दर कहानी सुनाना अनन्तगुना कठिन है। बहुत-से लेखकों को यदि सुखपूर्वक, सुन्दरता के साथ समाप्त होने वाली कहानी लिखनी हो तो वे उसे लिखने में समर्थ नहीं होंगे—उसके लिए उनके पास पर्याप्त कल्पना नहीं होती। बहुत कम कहानियों का अन्त (मानव-चेतना को) ऊपर उठाने वाला होता है, लगभग सभी कहानियों का अन्त असफलता में होता है—इसका बड़ा सीधा-सा कारण है, ऊपर उठने की अपेक्षा नीचे गिरना बहुत अधिक आसान है। सच पूछो तो अपनी कहानी को महानता और गौरव के स्वर के साथ समाप्त करना, अपने नायक को आत्मातिक्रमण की चेष्टा करने वाला एक प्रतिभासम्पन्न व्यक्ति बनाना बहुत अधिक कठिन है, क्योंकि उसके लिए स्वयं लेखक को भी प्रतिभाशाली व्यक्ति बनना होगा, और यह चीज़ प्रत्येक व्यक्ति को नहीं प्राप्त होती।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ४, पृ. १८३-८४

अपनी सत्ता में श्रद्धा

मनुष्य को अपनी सत्ता और अपने विचारों में तथा अपनी शक्तियों में श्रद्धा इसलिए दी गयी है कि वह महत्तर आदर्शों के लिए कार्य करके उनका सृजन करे तथा उनकी ओर ऊपर उठे और अन्त में अपनी शक्ति परम आत्मा की वेदी पर एक योग्य आहुति के रूप में प्रस्तुत करे। उपनिषद् में कहा गया है कि यह आत्मा दुर्बल के द्वारा प्राप्त नहीं की जा सकती, **नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः**। पंगु बनाने वाले समस्त अविश्वास को, कार्यसिद्धि के बारे में अपनी शक्ति के समस्त सन्देह को निरुत्साहित करना होगा, क्योंकि उसका अर्थ है अक्षमता को ग़लत स्वीकृति देना, अपने अन्दर दुर्बलता की कल्पना करना और आत्मा की सर्वशक्तिमत्ता से इन्कार करना। वर्तमान अक्षमता हम पर कितना ही भारी दबाव क्यों न डालती प्रतीत हो, फिर भी वह श्रद्धा की एक परीक्षा तथा एक अस्थायी कठिनाई मात्र है, और असमर्थता की भावना के आगे घुटने टेकना पूर्णयोग के साधक के लिए मूर्खतापूर्ण बात है, क्योंकि उसका लक्ष्य एक ऐसी पूर्णता को विकसित करना है जो पहले से ही विद्यमान है, सत्ता के अन्दर प्रसुप्त रूप में उपस्थित है, क्योंकि मनुष्य दिव्य जीवन का बीज अपने अन्दर, अपनी आत्मा में लिये हुए है, सफलता की सम्भावना भी उसके पुरुषार्थ में बसी हुई है और विजय सुनिश्चित है, क्योंकि उसके प्रयत्न के पीछे एक सर्वसमर्थ शक्ति की पुकार एवं मार्गदर्शन विद्यमान है। पर इसके साथ ही इस आत्मश्रद्धा को राजसिक अहंकार और आध्यात्मिक गर्व के समस्त स्पर्श से मुक्त एवं शुद्ध करना होगा। साधक को अपने मन में अधिकाधिक यह विचार रखना होगा कि उसका सामर्थ्य अहंकारमय अर्थ में उसका अपना नहीं है, बल्कि वह विराट् भागवत शक्ति का है और उसके द्वारा इसके प्रयोग में जो भी अहंकारमय भाव होता है वह अवश्य ही संकीर्णता का कारण होता है और अन्त में बाधक ही बनता है। विराट् भागवत शक्ति का जो सामर्थ्य हमारी अभीप्सा के पीछे विद्यमान है उसकी कोई सीमा नहीं, और जब उसका ठीक प्रकार से आवाहन किया जाता है तो वह अभी या बाद में हमारे अन्दर अपने-आपको प्रवाहित करने तथा हर प्रकार की अक्षमता और बाधा को दूर करने से चूक नहीं सकता; क्योंकि हमारे संघर्ष के काल और अन्तराल यद्यपि पहले-पहल, एक साधन के

रूप में तथा अंशतः, हमारी श्रद्धा और पुरुषार्थ की शक्ति पर निर्भर करते हैं तथापि अन्ततः वे उस निगूढ़ परम आत्मा के हाथों में ही हैं जो सब वस्तुओं का ज्ञानपूर्वक निर्धारण करती है और जो अकेली ही हमारे योग की स्वामिनी, **ईश्वर**, है।

CWSA खण्ड २४, पृ. ७७९-८० —श्रीअरविन्द

मैंने अभी कहा था कि हम अपने बारे में बड़े उदार विचार रखते हैं और मेरे ख़याल से, वास्तव में हमारे दोष भी प्रायः हमें आकर्षक प्रतीत होते हैं, अपनी सब कमज़ोरियों को हम उचित ठहराते हैं। परन्तु सच तो यह है कि आत्म-विश्वास की कमी से हम ऐसा करते हैं। क्या इससे तुम्हें आश्चर्य होता है?... हाँ, मैं फिर कहती हूँ कि अपने अन्दर आत्म-विश्वास की कमी से हम ऐसा करते हैं। यह कमी उसमें नहीं है जो हम इस क्षण हैं और न ही यह हमारी बाह्य सत्ता में है जो क्षणिक और सदा परिवर्तनशील है—यह तो हमें सदा लुभावनी लगती है—बल्कि हमारे अन्दर उस चीज़ के लिए विश्वास की कमी है जो हम प्रयास से बन सकते हैं, हमें उस पूर्ण तथा गहन रूपान्तर में विश्वास नहीं है जो हमारी आत्मा का, उस अमर अविनाशी भगवान् का कार्य होगा जो सब जीवों में निवास करता है। और यह कार्य तभी होगा जब हम अपने-आपको बालक की भाँति 'उनके' अनन्त ज्योतिर्मय दूरदर्शी पथ-प्रदर्शन पर छोड़ देंगे।...

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड २, पृ. २७-२८

'पहले की बातें' पुस्तक में आपने लिखा है कि जब हमारे अन्दर आत्म-विश्वास का अभाव रहता है तो हम अपनी सभी कमज़ोरियों को न्यायसंगत ठहराते हैं। हम ऐसा क्यों करते हैं?

हंऽऽ! तो! हम अपनी सारी कमज़ोरियों को न्यायसंगत ठहराते हैं? निश्चय ही यह आत्म-विश्वास का अभाव नहीं है। यह इस बात पर विश्वास का अभाव है कि तुम्हारे साथ भागवत 'कृपा' क्या कर सकती है। अपनी कमज़ोरियों को न्यायसंगत ठहराना एक प्रकार का आलस्य और तमस् है।

हाँ, जब तुम अपने को सुधारने के लिए प्रयास नहीं करना चाहते, तो

कहते हो : "ओह, यह असम्भव है, यह मुझसे नहीं होता, मेरे अन्दर शक्ति नहीं है, मैं उस धातु का बना हुआ नहीं हूँ, मेरे अन्दर अपेक्षित गुण नहीं हैं। मैं यह हर्गिज़ न कर सकूँगा।" यह शुद्ध रूप से आलस्य है, ताकि तुम आवश्यक प्रयास से बच सको। जब तुमसे प्रगति करने के लिए कहा जाता है तो तुम कहते हो : "ओह, यह मेरी पहुँच से परे है, मैं एक दीन प्राणी हूँ, मैं कुछ नहीं कर सकता!" बस। यह लगभग दुर्भावना है। यह अत्यधिक आलस्य है, प्रयास करने से इन्कार है। अपने सभी दोषों और अक्षमताओं को तुम इसलिए स्वीकार कर लेते हो ताकि उन्हें जीतने का प्रयास न करना पड़े। तुम कहते हो : "मैं हूँ ही ऐसा, मैं अन्यथा नहीं हो सकता!" यह भागवत 'कृपा' को अपने अन्दर काम करने देने से इन्कार है। यह तुम्हारी अपनी दुर्भावना को न्यायसंगत ठहराना है।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ६, पृ. ३०४

कुछ लोग हैं जो अपने पैरों पर खड़े रह सकते हैं। वे कोई चीज़ इसलिए करते हैं क्योंकि वे मानते हैं कि उसे करना अच्छा है। वे अपने आपको निर्बाध रूप से गुरु को अर्पित कर देते हैं और उनके बताये मार्ग पर चलते हैं। लेकिन सारे समय यह एक निर्बाध क्रिया होती है। कुछ और हैं जो दास होते हैं। वे जो कुछ करते हैं उसके लिए कोई सामाजिक या शासकीय मान्यता चाहते हैं। उनके अन्दर आत्मविश्वास केवल तभी हो सकता है जब कोई सत्ताधारी उन्हें मान्यता दे। यह दास-मनोवृत्ति है।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड १५, पृ. २९०-९१

आत्म-विश्वास के बिना तुम कभी कुछ नहीं कर सकते... क्योंकि साधना के प्रारम्भिक बेचैनी-भरे वर्षों में तुम्हारे पास और कोई सहारा नहीं होता, जब तुम केवल आशा का ही पल्ला थामे रहते हो, और जब तुम्हारी सबसे बहुमूल्य सम्पत्ति होती है निष्कम्प साहस और अपने अन्दर श्रद्धा तथा विश्वास।

CWSA खण्ड १, पृ. ७१६ —श्रीअरविन्द

सीखना अच्छा है, वैसा बनना अधिक अच्छा है।—श्रीमाँ

वीरता

तुम पानी में गिर पड़ते हो। वह विपुल जलराशि तुम्हें भयभीत नहीं करती। तुम हाथ-पाँव मारते हो, साथ ही तैरना सिखाने वाले अपने शिक्षक को धन्यवाद देते हो। तुम लहरों पर काबू पा लेते हो और बच निकलते हो। तुम बहादुर हो।

तुम सो रहे थे। "आग-आग" की आवाज़ ने तुम्हें चौंका दिया। तुम पलंग से कूद पड़ते हो; सामने तुम्हें अग्नि की लाल-लाल लपटें दिखायी देती हैं। तुम उस घातक भय से त्रस्त नहीं होते। धुँए, चिनगारियों और लपटों के बीच में से होकर तुम भाग निकलते हो और अपने-आपको बचा लेते हो। यह साहस का काम है।

बहुत दिन हुए मैं इंग्लैण्ड में बच्चों का एक स्कूल देखने गयी थी। वहाँ तीन से सात वर्ष तक के छात्र थे। उनमें लड़के-लड़कियाँ दोनों थे। वे सब बुनने, चित्रकारी करने, कहानी सुनने-सुनाने, गाने आदि में लगे हुए थे।

उनके अध्यापक ने मुझसे कहा : "हम अब अग्नि से बचने का अभ्यास करेंगे। सचमुच आग नहीं लगी है, पर बच्चों को यह सिखाया जा रहा है कि किस प्रकार ख़तरे का संकेत पाते ही झटपट उठ कर भाग जाना चाहिये।"

उन्होंने सीटी बजायी। उसी दम बच्चों ने अपनी पुस्तकें, पेंसिलें और बुनने की सलाइयाँ छोड़ दीं और उठ कर खड़े हो गये। दूसरे संकेत पर सब, एक के पीछे एक, बाहर खुले में आ गये। कुछ ही क्षणों में कक्षा ख़ाली हो गयी। उन छोटे बच्चों ने आग के ख़तरे का सामना करना और साहसी बनना सीखा था। तुम किसकी रक्षा के लिए तैरे थे? अपनी रक्षा के लिए।

तुम किसको बचाने के लिए आग की लपटों में से गुज़रे थे? अपने-आपको बचाने के लिए। बच्चों ने किसके बचाव के लिए आग के भय का सामना किया था? अपने बचाव के लिए।

प्रत्येक अवस्था में साहस का प्रदर्शन अपनी रक्षा के लिए किया गया था। क्या यह अनुचित था? बिलकुल नहीं। अपने जीवन की रक्षा करना और उसे बचाने के लिए वीरता का होना सर्वथा उचित है। परन्तु एक वीरता इससे भी बड़ी है : वह वीरता, जो दूसरों की रक्षा के लिए काम में लायी जाती है। —'श्रीमातृवाणी', खण्ड २, पृ. २००-०१

"हो सकता है कि प्रगति धीमी हो, पतन बार-बार हों, किन्तु यदि साहसपूर्ण संकल्प बनाये रखा जाये तो एक दिन विजय का आना सुनिश्चित है। और सत्य की जाज्वल्यमान चेतना के सम्मुख समस्त कठिनाइयों का पिघल जाना और विलीन हो जाना निश्चित है।"

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ४, पृ. ६२

सच्चा साहस, अपने गहरे-से-गहरे अर्थ में सच्चा साहस है हर चीज़ का सामना, जीवन में हर चीज़ का सामना करने के योग्य होना; छोटी-से-छोटी चीज़ से लेकर बड़ी-से-बड़ी चीज़ तक का, भौतिक चीज़ों से लेकर आत्मा की चीज़ों तक का सामना करना; जरा भी काँपे बिना, शरीर में भी काँपे बिना... हृदय की धड़कनें तेज़ हुए बिना, स्नायुओं में कम्पन के बिना, सत्ता के किसी भी हिस्से में ज़रा भी आवेग के बिना सामना करना। हर चीज़ का भागवत 'उपस्थिति' की निरन्तर चेतना के साथ, भगवान् के प्रति पूर्ण आत्मोत्सर्ग के साथ, और सारी सत्ता को इस इच्छा में एक करके सामना करो; तब मनुष्य जीवन में आगे बढ़ सकता है, और चाहे कुछ क्यों न हो, सब कुछ का सामना कर सकता है। मैं कहती हूँ : बिना कम्पन के, बिना किसी स्पन्दन के सामना कर सकता है। यह लम्बे प्रयास का परिणाम होता है जब तक कि कोई विशेष कृपा द्वारा इस साहस के साथ पैदा न हुआ हो, लेकिन यह तो और भी विरल है।

अपने भय पर विजय प्राप्त करने का अर्थ है कि सत्ता का एक भाग दूसरे से ज़्यादा मज़बूत है, और वह, जिसमें भय नहीं है, भयभीत भाग पर अपनी निर्भीकता आरोपित करता है। लेकिन इसका आवश्यक रूप से यह मतलब नहीं है कि यह व्यक्ति उससे ज़्यादा साहसी है जिसे भय को वश में करने की ज़रूरत ही नहीं है। क्योंकि जिसमें वश में लाने के लिए कोई भय ही नहीं है, इसका अर्थ है कि वह हर जगह साहसी है, अपनी सत्ता के हर भाग में। एक निर्भीकता ऐसी है जो अचेतना और अज्ञान से आती है। उदाहरण के लिए, जो बच्चे संकट के बारे में नहीं जानते, वे ऐसे काम कर लेते हैं जिन्हें वे कभी न करते, अगर उन्हें संकट के बारे में पता होता। इसका मतलब है कि उनकी निर्भीकता अज्ञानमयी निर्भीकता है। लेकिन सच्चा साहस वस्तुओं के पूरे ज्ञान के साथ होता है, यानी, वह

सब सम्भावनाओं को जानता है और वह, निरपवाद रूप से, हर चीज़ का सामना करने के लिए तैयार होता है।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ७, पृ. ३४

मुझे याद है कि एक बार हमने एक परिपूर्णता के रूप में साहस की चर्चा की थी; मुझे याद है कि इसे एक तालिका के अन्दर लिखा भी गया था। परन्तु यह एक ऐसा साहस है जिसमें एक सर्वोच्च साहसिक कार्य का रस होता है। और सर्वोच्च साहसिकता का यह रस है अभीप्सा—वह अभीप्सा जो तुम्हें पूर्णतः अपने अधिकार में कर लेती है और बिना कोई हिसाब लगाये, बिना कुछ बचाये और पीछे हट आने की किसी सम्भावना के बिना, तुम्हें भागवत खोज के महान् 'साहसिक कार्य' में, दिव्य मिलन के महान् 'साहसिक कर्म' में, और 'भागवत उपलब्धि' के और भी महत्तर साहसिक कार्य में फेंक देती है; मनुष्य बिना पीछे ताके और एक क्षण भी यह पूछे बिना कि "क्या होने वाला है" अपने-आपको इस 'साहसिक कार्य' में, झोंक देता है। क्योंकि यदि कोई पूछता है कि क्या होने वाला है तो वह कभी प्रारम्भ ही नहीं करता, वह सदा धरती से चिपका रहता है, वहाँ, गड़ा रहता है, किसी वस्तु को खो देने, अपना सन्तुलन खो देने के भय से त्रस्त बना रहता है।

यही कारण है कि मैं साहस की बात कहती हूँ—परन्तु वास्तव में यह अभीप्सा की बात है। ये दोनों साथ-साथ रहते हैं। सच्ची अभीप्सा ऐसी चीज़ है जो साहस से भरी रहती है।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ८, पृ. ४९

साहस और प्रेम ही अनिवार्य गुण हैं; और सब गुण यदि धुँधले या निस्तेज पड़ जायें फिर भी ये दोनों आत्मा को जीवित रखेंगे।

साहस का अर्थ है भय के सभी रूपों की पूर्ण अनुपस्थिति।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड १०, पृ. ३२६-२७

जिस किसी में साहस है वह औरों को साहस दे सकता है जैसे दीये की ज्योति दूसरे दीये को जला सकती है।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड १४, पृ. १८८-८९

लगन व अध्यवसाय

... सबसे बढ़ कर आवश्यक गुण है लगन, सहिष्णुता, और... उसे क्या नाम दें?—एक प्रकार का आन्तरिक प्रसन्न-भाव जो निरुत्साहित न होने में, उदास न होने में और मुस्कुराहट के साथ सभी कठिनाइयों का सामना करने में तुम्हारा सहायक होता है। अंग्रेज़ी में एक शब्द है जो इस भाव को अच्छी तरह व्यक्त करता है और वह है 'चियरफ़ुलनेस' (Cheerfulness) —प्रफुल्लता। यदि तुम इसे अपने अन्दर बनाये रखो तो तुम उन सब बुरे प्रभावों के साथ, जो तुम्हें प्रगति करने से रोकने का प्रयास करते हैं, प्रकाश के अन्दर, बहुत अच्छे ढंग से लड़ सकते हो, उनका अधिक अच्छी तरह से विरोध कर सकते हो।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ८, पृ. २८

हर एक को अपनी निश्चिति अपने ही अन्दर खोजनी चाहिये, सब चीज़ों के बावजूद इसे बनाये, सम्भाले रखना चाहिये और किसी भी क़ीमत पर लक्ष्य तक बढ़ते जाना चाहिये। 'विजय' उसी की होती है जो अन्त तक डटा रहता है।

सब विरोधों के होते हुए अपनी सहन-शक्ति बनाये रखने के लिए हमारे सहारे का आधार अचल-अटल होना चाहिये, और **एक ही** सहारा अचल-अटल है, वह है 'सत्' का, 'परम सत्य' का सहारा।

किसी और को खोजना बेकार है। केवल यही है जो कभी साथ नहीं छोड़ता। —'श्रीमातृवाणी', खण्ड ९, पृ. २८४

... हम सदैव सन्तुष्ट रहने की आशा नहीं कर सकते तथा धीरज रखना सीखना अत्यन्त उपयोगी है। हमारे जीवन में ऐसे दिन कम ही आते हैं जब कि हम इस गुण का अनुशीलन न कर सकते हों।

तुम्हें एक अत्यन्त व्यस्त व्यक्ति से कुछ काम है। तुम उसके घर जाते हो। वहाँ पहले से ही कई मिलने वाले उपस्थित हैं; मिलने से पहले वह तुमसे बड़ी लम्बी प्रतीक्षा करवाता है। पर तुम वहाँ शान्तिपूर्वक, शायद कई घण्टों तक, ठहरे रहते हो। तुम धैर्यवान् हो।

किसी और समय, जब तुम उससे मिलने जाते हो वह अपने घर में

नहीं होता। अगले दिन तुम फिर जाते हो, पर उसका द्वार तुम्हें अब भी बन्द मिलता है। तीसरी बार तुम फिर पहुँचते हो। इस बार वह बीमार है, मिल नहीं सकता। कुछ दिन बाद तुम उसके घर का रास्ता फिर पकड़ते हो। यदि तब भी कोई नयी घटना उससे मिलने से तुम्हें रोक देती है, फिर भी तुम निरुत्साहित नहीं होते, और तुम तब तक अपने प्रयत्न में लगे रहते हो जब तक तुम उससे मिल नहीं लेते। इस प्रकार का धैर्य अध्यवसाय कहलाता है।

अध्यवसाय—यह सक्रिय धैर्य है, अर्थात्, गतिशील धैर्य।

जेनेवा का रहने वाला प्रसिद्ध नाविक, कोलम्बस, स्पेन से जहाज़ लेकर पश्चिम के अज्ञात समुद्रों को पार करने निकला।

दिन बीत गये, सप्ताह बीत गये, अपने साथियों की बड़बड़ाहट को सहते हुए वह एक नयी पृथ्वी को खोज निकालने की अपनी धुन में दृढ़ रहा। विलम्ब हुए, कई कठिनाइयाँ उपस्थित हुईं पर जब तक वह अमरीका के किनारे के द्वीपों तक नहीं पहुँचा, उसने दम नहीं लिया। इस प्रकार उसने एक नया महाद्वीप खोज निकाला।

वह अपने साथियों से किस बात की आशा रखता था? वह उनसे केवल यह चाहता था कि वे धैर्य रखें। उनका कर्तव्य केवल इतना था कि वे उस पर भरोसा रखें और नम्रतापूर्वक उसकी आज्ञा के अधीन रहें। पर इस लक्ष्य-प्राप्ति के लिए स्वयं उसके अन्दर किस वस्तु का होना आवश्यक था? उसमें उस अक्षुण्ण उत्साह और अथक लगन की आवश्यकता थी जिसे हम अध्यवसाय कहते हैं।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड २, पृ. २२१-२२

जो सत्य तुमने देखा है वह यदि तुरन्त संसिद्ध न हो तो तुम्हें अधीर नहीं होना चाहिये, निराश, अवसन्न, निरुत्साहित नहीं होना चाहिये। स्वभावतः, यदि तुमसे कोई भूल हो जाये तो हृदय के टूट जाने या दुःखी होने या निराश होने का कोई प्रश्न नहीं है, क्योंकि प्रत्येक भूल सुधारी जा सकती है; जिस क्षण तुमने यह जान लिया कि यह भूल है, उसी क्षण से अपने अन्दर कार्य करने का, प्रगति करने और बहुत प्रसन्न होने का सुअवसर

सामने है! परन्तु वह स्थिति तब अत्यधिक गम्भीर और जीतने में अत्यधिक कठिन होती है जब कि तुम कोई सच्ची, मूलतः और पूर्णतः सच्ची, वस्तु देख लेते हो, और विश्व की अवस्था ऐसी होती है कि वह सत्य अभी तक अपनी संसिद्धि के लिए परिपक्व नहीं होता। मैं यह नहीं कहती कि ऐसा बहुतों के साथ घटित होता है, पर शायद यह तुम्हारे साथ घटित हो, और उस समय तुम्हें महान् धैर्य रखना होगा, बड़ी समझदारी से काम लेना होगा और अपने-आपसे कहना होगा, "यह सच तो था, पर यह पूर्ण रूप से सच नहीं था", अर्थात्, यह अन्य सभी सत्यों के साथ सुसमञ्जस सत्य नहीं था और सबसे बढ़ कर, इसका वर्तमान सम्भावनाओं के साथ मेल नहीं था; तो, हमने इसे बहुत शीघ्र संसिद्ध करने की कोशिश की थी, और चूँकि हमने बहुत शीघ्र कोशिश की, इसीलिए यह संसिद्ध नहीं हो सका। परन्तु यह मत कहो कि वह मिथ्या था, क्योंकि वह संसिद्ध नहीं हुआ; बस, यह कहो कि उसका अभी समय नहीं आया था, तुम बस यही कह सकते हो—तुमने जो देखा था वह सत्य था, लेकिन उसका समय नहीं हुआ था। और फिर, बहुत धैर्य और लगन के साथ, तुम्हें अपने छोटे-से सत्य को उस समय तक सुरक्षित रखना चाहिये जब उसे संसिद्ध करना सम्भव होगा।

अन्तिम विजय उसे ही मिलती है जो अत्यन्त धैर्यवान् होता है।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ४, पृ. १३७-३८

जब तुम भौतिक जीवन की कोई चीज़ बदलना चाहो, चाहे वह चरित्र हो या अंगों की सञ्चालन-क्रिया हो या आदतें, तुम्हें स्थिर अध्यवसाय के साथ वही चीज़, उसी तीव्रता के साथ सौ बार करने के लिए तैयार रहना चाहिये जिस तीव्रता के साथ तुमने पहली बार प्रयास किया था, और इस तरह करना चाहिये मानों पहले कभी न किया हो।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ७, पृ. ११५

डटे रहो, सफलता का यह सबसे निश्चित मार्ग है। जिसे तुम पिछले वर्ष अपने अन्दर नहीं पा सके उसे इस वर्ष पा लोगे।

तुम जो आज नहीं कर पा रहे उसे कल चरितार्थ कर लोगे। डटे रहो और तुम्हारी विजय होगी।

अध्यवसाय द्वारा ही व्यक्ति कठिनाइयों को जीत सकता है, उनसे भाग कर नहीं। जो डटा रहे उसका जीतना निश्चित है। विजय सबसे अधिक सहनशील को प्राप्त होती है। हमेशा अपना अच्छे-से-अच्छा करो और परिणामों को भगवान् देख लेंगे।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड १४, पृ. १७९, १८०

उचित मनोवृत्ति के लिए अभीप्सा

ऊर्जस्वी, इच्छुक, दृढ़निश्चयी

(श्रीमाँ द्वारा दिया गया पुष्प का आध्यात्मिक अर्थ)

वानस्पतिक नाम : Clerodendrum Xspeciosum

इस तरह हम उस सर्व-अद्‌भुतेश्वर के समीप खिंच आते हैं
पदार्थों में उसके आह्लाद को संकेत और पथ-प्रदर्शक सम अनुसरण करते;
सौन्दर्य उसका पदचिह्न है जो दर्शाता है कि वह कहाँ-कहाँ से गुज़रा है,
प्रेम उसके हृदय-स्पन्दन की लय है जो मर्त्य अन्तरों में धड़कता है,
हर्ष उसके प्रेमी मुख पर खेलता भाव-भरा स्मित है।
'सावित्री', पृ. ११२ *—श्रीअरविन्द*

भागवत शक्ति में श्रद्धा

दुश्मन को खदेड़ने का सबसे अच्छा तरीक़ा है उसके मुँह पर हँसना! तुम उसके साथ कई-कई दिनों तक भिड़ते और टकराते रहो और उसकी शक्ति ज़रा भी कम होती हुई न दीखेगी; बस एक बार उसके सामने हँस दो और वह दुम दबा कर भाग जायेगा! आत्मविश्वास से और भगवान् पर श्रद्धा से भरी हँसी दुश्मन को सबसे अधिक तहस-नहस कर देने वाली शक्ति है—वह शत्रु के मोर्चे को तोड़ देती है, उसकी सेनाओं में खलबली मचा देती है और तुम्हें विजयी के रूप में आगे बढ़ाती है।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ३, पृ. १५४

जीवन की सभी परिस्थितियों की व्यवस्था हमें यह सिखाने के लिए की गयी है कि मन से परे, भागवत कृपा में विश्वास ही हमें सभी परीक्षाओं में उत्तीर्ण होने, सभी दुर्बलताओं पर विजय प्राप्त करने तथा दिव्य चेतना के साथ सम्पर्क स्थापित करने की शक्ति प्रदान करता है, उस दिव्य चेतना के साथ जो हमें केवल शान्ति और आनन्द ही नहीं बल्कि शारीरिक सन्तुलन एवं अच्छा स्वास्थ्य भी प्रदान करती है।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड १०, पृ. ३७४

भागवत शक्ति में श्रद्धा हमारे सामर्थ्य के पीछे हमेशा बनी रहनी चाहिये और जब शक्ति प्रकट हो जाये तो श्रद्धा असन्दिग्ध और पूर्ण होनी या बन जानी चाहिये। ऐसी कोई चीज़ नहीं जो उनके लिए असम्भव हो, क्योंकि वे चिन्मय शक्ति तथा विराट् भगवती हैं जो सनातन काल से सबका सृजन करने वाली जननी हैं तथा परमात्मा की सर्वशक्तिमत्ता से सुसम्पन्न हैं। सम्पूर्ण ज्ञान, समस्त शक्तियाँ, समस्त सफलता और विजय, समस्त कौशल और कर्म-कलाप उन्हीं के हाथों में हैं और वे परम आत्मा के ऐश्वर्यों तथा समस्त पूर्णताओं एवं सिद्धियों से परिपूर्ण हैं।... हमें अपने अन्दर यह श्रद्धा रखनी और पूर्णतया विकसित करनी चाहिये कि सभी चीज़ें परम आत्मज्ञान और प्रज्ञा की उन क्रियाओं का परिणाम हैं जो विश्व की विराट् परिस्थितियों में घटित होती हैं, कि हमारे अन्दर या चारों ओर जो कुछ भी होता है उसमें ऐसा कुछ भी नहीं जो व्यर्थ हो या जिसका अपना नियत

स्थान एवं समुचित अर्थ न हो, कि जब ईश्वर हमारे परमोच्च 'पुरुष' एवं आत्मा के रूप में हमारे कार्य को अपने हाथ में ले लेते हैं तब सभी कुछ सम्भव हो जाता है और जो कुछ वे पहले कर चुके हैं तथा जो कुछ वे भविष्य में करेंगे वह सब उनके निर्भ्रान्त एवं पूर्वदर्शी मार्गनिर्देश का अंग था और होगा, साथ ही वह हमारे योग की सफलता, हमारी पूर्णता एवं हमारे जीवन-कार्य के लिए भी अभिप्रेत था और होगा। जैसे-जैसे उच्चतर ज्ञान का द्वार खुलेगा, यह श्रद्धा अधिकाधिक सार्थक सिद्ध होती जायेगी और जो बड़े एवं छोटे अर्थ हमारे संकुचित मन की दृष्टि से परे थे उन्हें हम अब देखने लगेंगे और तब श्रद्धा ज्ञान में परिणत हो जायेगी। तब हम सन्देह की ज़रा-सी भी सम्भावना के बिना यह देखेंगे कि सभी कुछ एक ही संकल्प-शक्ति की क्रिया के अन्तर्गत घटित होता है और वह संकल्प-शक्ति प्रज्ञा भी है क्योंकि वह जीवन में सदा ही आत्मा और प्रकृति की सच्ची क्रियाओं को विकसित करती है। जब हम ईश्वर की उपस्थिति को अनुभव करेंगे, अपनी सम्पूर्ण सत्ता, चेतना एवं अपने समस्त चिन्तन, संकल्प और कर्म को उन्हीं के हाथ में अनुभव करेंगे, सभी वस्तुओं में एवं अपनी आत्मा और प्रकृति के प्रत्येक साधन के द्वारा परमात्मा की प्रत्यक्ष, अन्तर्यामी और प्रभुत्वशालिनी संकल्पशक्ति को अनुमति प्रदान करेंगे, तब वह हमारी सत्ता की स्वीकृति, अर्थात् श्रद्धा की पराकाष्ठा होगी।

CWSA खण्ड २४, पृ. ७८०-८१ —श्रीअरविन्द

श्रद्धा (Faith)—ऊर्जस्वी सम्पूर्ण विश्वास तथा स्वीकृति।

विश्वास (Belief)—केवल बौद्धिक स्वीकृति।

दृढ़ धारणा (Conviction)—बौद्धिक विश्वास जो अच्छे कारणों पर टिका प्रतीत होता है।

निर्भरता (Reliance)—किसी वस्तु के लिए अन्य का सहारा लेना, लेकिन वह आस्था पर आधारित हो।

आस्था (Trust)—किसी दूसरे की सहायता पर पूरे-पक्के भरोसे की भावना और उसके वचन, स्वभाव, इत्यादि पर विश्वास।

भरोसा (Confidence)—आस्था के संग चलती सुरक्षा की भावना।

CWSA खण्ड २९, पृ. ८८ —श्रीअरविन्द

नम्रता

एक बात है जो हमेशा कही गयी है, लेकिन हमेशा ग़लत समझी गयी है, यह है नम्रता की आवश्यकता। हम उसे गलत तरह से लेते हैं, बुरी तरह समझते हैं, और बुरी तरह उसका उपयोग करते हैं। नम्र बनो, यदि तुम ठीक ढंग से नम्र बन सकते हो; सबसे बड़ी बात है ग़लत तरीके से नम्र मत बनो, क्योंकि यह तुम्हें कहीं नहीं पहुँचाता। लेकिन एक बात है : अगर तुम अपने अन्दर से इस जंगली घास को—जिसे मिथ्याभिमान कहते हैं—खींच कर बाहर कर सको तो वास्तव में तुमने कुछ काम किया। काश, तुम्हें मालूम होता कि यह कितना कठिन है! तुम (बिना जाने ही) मिथ्याभिमान के बिना, अन्दर से सन्तुष्ट होकर फूले बिना कोई चीज़ ठीक तरह नहीं कर सकते, कोई अच्छा विचार नहीं कर सकते, कोई सच्ची गति नहीं कर सकते, थोड़ी-सी प्रगति नहीं कर सकते। और तब तुम ज़ोर से हथौड़े बरसा कर इसे तोड़ने के लिए बाधित होते हो। फिर भी टूटे टुकड़े बचे रहते हैं और फिर से अंकुरित होने लगते हैं। इस रूखड़ी को जड़ से निकालने के लिए तुम्हें जन्म-भर काम करना पड़ता है। यह बार-बार निकल आती है और इतने छिपे रूप में उगती है कि तुम मान बैठते हो कि अब यह चली गयी। तुम अपने-आपको बहुत विनम्र मान कर कहते हो : "यह मैंने नहीं किया। मुझे लगता है कि यह भगवान् ने किया है। भगवान् न हों तो मैं कुछ भी नहीं हूँ," और अगले ही क्षण, ऐसी बात सोचने के लिए तुम अपने-आपसे बहुत सन्तुष्ट हो जाते हो!

विनम्र होने का ठीक और ग़लत तरीका क्या है?

यह बहुत सरल है। जब लोगों से विनम्र होने के लिए कहा जाता है तो वे तुरन्त "दूसरे लोगों के सामने नम्र" होने की बात सोच लेते हैं, यह नम्रता ग़लत है। सच्ची नम्रता भगवान् के प्रति नम्रता है। यानी, एक यथार्थ, ठीक-ठीक, **जीता-जागता** भाव कि हम भगवान् के बिना कुछ भी नहीं हैं, कुछ भी नहीं कर सकते और कुछ भी नहीं समझ सकते, कि अगर हम बहुत ही अधिक तथा विरल रूप में, बुद्धिमान् हैं फिर भी यह भागवत 'चेतना' के सामने कुछ भी नहीं है। और यह भाव हमेशा

बना रहना चाहिये क्योंकि तब ग्रहणशीलता का सच्चा भाव हमेशा बना रह सकता है—एक ऐसी विनम्र ग्रहणशीलता का जो भगवान् के सामने व्यक्तिगत आत्म-प्रदर्शन नहीं करती।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ५, पृ. ५०-५१

माताजी, जब हम प्रयास करते हैं तो हमारे अन्दर कोई चीज़ बहुत ज़्यादा आत्मतुष्ट हो जाती है, शेखी बघारती है और अपने प्रयास से सन्तुष्ट हो जाती है और इससे सब कुछ बिगड़ जाता है। तो हम इससे कैसे पिण्ड छुड़ा सकते हैं?

आह, यह वह है जो देखा करता है कि तुम क्या कर रहे हो! जब तुम कुछ करते हो तो हमेशा कोई उसे देखता रहता है। तो कभी-कभी, वह गर्व से फूल उठता है। स्पष्ट है कि गर्व प्रयास में से बहुत सारे बल को खींच लेता है। मेरा ख़याल है कि यह वही चीज़ है : यह अपने-आपको कार्य करते हुए, अपने-आपको जीते हुए देखने की आदत है। अपने-आपका अवलोकन ज़रूरी है, लेकिन मेरा ख़याल है कि पूरी तरह सच्चा और सहज होना उससे भी ज़्यादा ज़रूरी है, तुम जो कुछ करो उसमें बहुत ज़्यादा सहज-स्वाभाविक होओ : हमेशा अपने-आपको काम करते हुए देखते न रहो और अपने-आपकी परख—कभी-कभी कड़ाई के साथ परख—न करते रहो। वास्तव में, यह लगभग उतना ही बुरा है जितना सन्तोष के साथ अपने-आपको शाबाशी देना। दोनों चीज़ें समान रूप से बुरी हैं। तुम्हें अपनी अभीप्सा में इतना सच्चा होना चाहिये कि तुम्हें पता भी न चले कि तुम अभीप्सा कर रहे हो, तुम स्वयं अभीप्सा बन जाओ।...

एक मिनट के लिए, तुम इसे बस, एक मिनट के लिए पा लो, और तुम बरसों की सिद्धि के लिए तैयारी कर लोगे। जब तुम अपनी ही ओर निहारने वाली सत्ता नहीं रहते, एक ऐसे अहंकार नहीं रहते जो अपने-आपको क्रिया करते हुए देखता रहता है, जब तुम स्वयं क्रिया बन जाते हो, और सबसे बढ़ कर, स्वयं अभीप्सा बन जाते हो, तो यह सचमुच अच्छा है। जब कोई ऐसा व्यक्ति नहीं रह जाता जो अभीप्सा करता है, जब स्वयं अभीप्सा पूरे एकाग्र आवेग के साथ ऊपर उठती है, तब सचमुच

चीज़ बहुत दूर तक जाती है। अन्यथा उसमें हमेशा ज़रा-सा दम्भ, ज़रा-सा आत्म-सन्तोष, ज़रा-सी आत्म-दया भी—ऐसी सब प्रकार की चीज़ें मिली रहती हैं जो सब कुछ बिगाड़ देती हैं।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ६, पृ. ४५३-५४

उदारता

सज्जनता और उदारता आत्मा के सूक्ष्म आकाश हैं; इनके बिना व्यक्ति काल-कोठरी में पड़ा कीड़ा ही दिखायी देता है।

—श्रीअरविन्द ('विचार और सूत्र')

श्रीमाँ समझाती हैं :

सज्जनता का अर्थ है समस्त वैयक्तिक हिसाब-किताब को अस्वीकार कर देना। उदारता का अर्थ है दूसरों के सन्तोष में अपना सन्तोष पाना।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड १०, पृ. ३२७

महालक्ष्मी के विषय में श्रीअरविन्द यहाँ कहते हैं : "वे सब चीज़ें जो दीन-हीन होती हैं... उनके आगमन को रोकती हैं"?

हाँ, वह सब जो दरिद्र है, उदारता से रहित, उत्साह की प्रखरता से शून्य, प्राचुर्य से रहित, आन्तरिक समृद्धि से शून्य; जो कुछ सूखा, ठण्डा, गुड़ी-मुड़ी होता है वह सब महालक्ष्मी के आगमन को रोकता है। यहाँ प्रश्न स्थूल धन का नहीं है, समझे! एक अत्यन्त धनी व्यक्ति भी महालक्ष्मी की दृष्टि में भयानक रूप से दरिद्र हो सकता है। और एक बहुत दरिद्र व्यक्ति बहुत धनी हो सकता है यदि उसका हृदय उदार हो।... दरिद्र मनुष्य वह व्यक्ति है जिसमें कोई गुण न हो, कोई शक्ति, कोई बल-सामर्थ्य, कोई उदार-भाव न हो। वह एक दुःखी, अभागा मनुष्य भी होता है। परन्तु कोई व्यक्ति केवल तभी दुःखी होता है जब वह उदार नहीं होता—यदि किसी के अन्दर ऐसा उदार स्वभाव हो जो बिना हिसाब लगाये अपने-आपको दे देता हो, तो वह कभी दुःखी नहीं होता। जो लोग स्वयं अपने-आप पर ही केन्द्रित होते हैं और जो सर्वदा अपनी ओर ही वस्तुओं को खींचना चाहते

हैं, जो चीज़ों को और जगत् को अपने ही नज़रिये से देखते हैं—केवल ये ही लोग दुःखी होते हैं। परन्तु जब कोई अपने-आपको उदारतापूर्वक, हिसाब लगाये बिना, दे देता है तो वह कभी दुःखी नहीं होता—कभी नहीं। जो व्यक्ति लेना चाहता है बस वही दुःखी होता है; जो अपने-आपको दे देता है वह कभी वैसा नहीं होता।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ४, पृ. ४८५-८६

मैं यहाँ भौतिक उदारता की चर्चा नहीं करूँगी जिसका स्वाभाविक स्वरूप है अपने पास जो कुछ हो उसे दूसरों को देना। परन्तु यह गुण भी बहुत अधिक लोगों में नहीं पाया जाता, क्योंकि जैसे ही कोई धनी हो जाता है, वह दान कर देने के बदले कहीं अधिक अपने धन को बचाये रखने की बात सोचने लगता है। मनुष्य जितना अधिक धनाढ्य होता है उतना ही कम वह उदार होता है।

मैं यहाँ नैतिक उदारता की चर्चा करना चाहती हूँ। उदाहरणार्थ, जब अपना कोई साथी सफल हो तो प्रसन्नता अनुभव करनी चाहिये। साहस के, निःस्वार्थ-भाव के, उच्च त्याग के कार्यों में एक प्रकार का सौन्दर्य होता है जो हमें आनन्द प्रदान करता है। यह कहा जा सकता है कि नैतिक उदारता का तात्पर्य है, दूसरों की यथार्थ मूल्य-मर्यादा और श्रेष्ठता को पहचानने में समर्थ होना।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ४, पृ. ३६-३७

वस्तुओं के बारे में नैतिक और आध्यात्मिक दृष्टिकोण के भेद का एक उदाहरण ले लो। साधारण सामाजिक विश्वास मनुष्यों को उदार और लोभी, इन दो श्रेणियों में बाँटता है। लोभी मनुष्य से घृणा की जाती है, उसे दोष दिया जाता है, जब कि उदार मनुष्य को निःस्वार्थ और समाज के लिए उपयोगी समझा जाता है और इस गुण के लिए उसकी प्रशंसा की जाती है। परन्तु आध्यात्मिक दृष्टि के लिए दोनों एक ही भूमिका पर खड़े हैं; एक की उदारता और दूसरे का लोभ, दोनों ही किसी उच्चतर सत्य के, किसी महत्तर दैवी शक्ति के विकृत रूप हैं। एक ऐसी शक्ति है, ऐसी दैवी प्रवृत्ति है जो प्रकृति की समस्त भूमिकाओं पर, अत्यन्त जड़-प्राकृतिक भूमिका से लेकर

अत्यन्त आध्यात्मिक भूमिका तक शक्तियों को और वस्तुओं को तथा जो कुछ भी उसके पास हो उसे फैलाती, बिखेरती और दोनों हाथों से बाँटती रहती है। उदार मनुष्य और उसकी उदारता के पीछे एक ऐसी विशिष्ट प्रकार की आत्मा होती है जो इस दैवी प्रवृत्ति को अभिव्यक्त करती है, वह मनुष्य बिखेरने और दूर-दूर तक बाँटने की एक शक्ति होता है। इसी तरह, एक दूसरी शक्ति होती है, एक और दैवी प्रवृत्ति होती है जो इकट्ठा करने और जमा करने का काम करती है, वह शक्तियों और वस्तुओं को तथा अन्य जो कुछ भी स्वायत्त किया जा सकता है उस सबको, फिर चाहे वे निम्नतर भूमिकाओं की हों या उच्चतर भूमिकाओं की, एकत्र करती और जमा करती रहती है। जिसे तुम लोभी होने का दोषी ठहराते हो उसे इस दैवी प्रवृत्ति का एक यन्त्र होना था।

दोनों ही महत्त्वपूर्ण हैं, समग्र योजना में दोनों की ही आवश्यकता है। जो प्रवृत्ति एकत्र और जमा करती है उसकी आवश्यकता उस प्रवृत्ति से ज़रा भी कम नहीं है जो फैलाती और बिखेरती रहती है। दोनों ही, यदि सचमुच भगवान् के अर्पण हो जायें, तो समान मात्रा में और समान मूल्य के साथ, भागवत कर्म के लिए यन्त्र-रूप में उपयोग में लायी जायेंगी। परन्तु जब तक उनका समर्पण नहीं होता तब तक दोनों ही समान रूप से अज्ञान के आवेगों द्वारा परिचालित होती रहती हैं। एक फेंकने के लिए बाहर की ओर धकेली जाती है, दूसरी बचा रखने के लिए अन्दर की ओर खींची जाती है; परन्तु दोनों का सञ्चालन ऐसी शक्तियों द्वारा होता है जो स्वयं अपनी चेतना के लिए अन्धकारमयी होती हैं, इन दोनों में चुनने-लायक कुछ भी नहीं है। योग के उच्चतर दृष्टिबिन्दु से इस बहुत प्रशंसित उदार मनुष्य से यह कहा जा सकता है : "उदारता के तुम्हारे समस्त आवेगों का आत्मा के हिसाब से कुछ मूल्य नहीं है, क्योंकि ये अहंकार और अज्ञानमयी कामना से आते हैं।" और, दूसरी ओर, जिन पर लोभी होने का दोष लगाया जाता है उनमें कभी कोई ऐसा मनुष्य मिल सकता है जो प्रकृति के सौंपे हुए इस काम में सर्वथा शान्त भाव से और एकाग्रता के साथ लगा हुआ, चीज़ों को बटोरता और जमा करता रहता है, और ऐसा मनुष्य एक बार जागने पर भगवान् का एक बहुत अच्छा यन्त्र बन जायेगा। परन्तु साधारणतया लोभी मनुष्य, अपने विपक्षी की ही तरह, अहंकार और कामना के वश कर्म करता

है; यह उसी अज्ञान का दूसरा छोर है। दोनों को अपने-आपको शुद्ध और परिवर्तित करना होगा, तब कहीं वे अपने पीछे रहने वाली किसी उच्चतर वस्तु के सम्पर्क में आ सकेंगे और उस वस्तु को उस रूप में व्यक्त कर सकेंगे जिस रूप में उनकी प्रकृति चाहती है।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ३, पृ. १३५-३६

कृतज्ञता

... एक दूसरी क्रिया है जो भक्ति के साथ निरन्तर बनी रहनी चाहिये...। इस प्रकार की कृतज्ञता का भाव कि भगवान् का अस्तित्व है; चमत्कारपूर्ण कृतज्ञता की यह भावना जो वास्तव में इस तथ्य के कारण ही तुम्हें महान् हर्ष से भर देती है कि भगवान् हैं, विश्व में कोई वस्तु है जो भगवान् है, वास्तव में वह भयंकरता ही नहीं है जिसे हम देखते हैं, भगवान् हैं, भगवान् विद्यमान हैं। और जब-जब अत्यन्त मामूली चीज़ भी तुम्हें प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में, दिव्य सत्ता के इस उच्च 'सत्य' के सम्पर्क में ला देती है, तुम्हारा हृदय इतने तीव्र, इतने अलौकिक हर्ष से, एक ऐसी कृतज्ञता से भर जाता है जिसमें मानों अन्य सब चीज़ों की अपेक्षा सबसे अधिक आनन्दपूर्ण रस होता है।

ऐसी कोई चीज़ नहीं जो तुम्हें कृतज्ञता से प्राप्त हर्ष के समान हर्ष प्रदान करे। हम एक पक्षी को गाते हुए सुनते हैं, एक सुन्दर-सा पुष्प देखते हैं, एक नन्हें से बच्चे को निहारते हैं, उदारता के एक कार्य की ओर दृष्टिपात करते हैं, एक आकर्षक वाक्य पढ़ते हैं, अस्तोन्मुख रवि को देखते हैं, इसका महत्त्व नहीं कि वह क्या चीज़ है, एकाएक यह चीज़ तुम्हें अभिभूत कर देती है, इस प्रकार का भावातिरेक—निस्सन्देह, इतना गभीर, इतना तीव्र—कि संसार भगवान् को अभिव्यक्त कर रहा है, जगत् के पीछे कोई वस्तु है जो भगवान् है।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ८, पृ. ४८-४९

... बहुत कम लोग हैं, बहुत ही कम, उनकी संख्या न के बराबर है, जो सच्ची धार्मिक भावना के साथ गिरजाघर या मन्दिर जाते हैं, यानी, किसी चीज़ के लिए प्रार्थना करने या भगवान् से कुछ माँगने के लिए

नहीं, बल्कि अपने-आपको समर्पित करने के लिए, कृतज्ञता प्रकट करने के लिए, अभीप्सा और आत्म-समर्पण करने के लिए जाते हैं। ऐसा करने वाला मुश्किल से लाखों में एक होता है।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ६, पृ. २२२-२३

कृतज्ञ होने का अर्थ है : इस अद्‌भुत भागवत कृपा को कभी न भूलना जो हर एक को—चाहे वह कैसा भी हो, अज्ञान और ग़लतफ़हमियों से, अहंकार, विरोध और विद्रोह से भरा हो—छोटे-से-छोटे पथ से उसके लक्ष्य तक ले जाती है। कृतज्ञता की पवित्र अग्निशिखा हमारे हृदय में निरन्तर जलती रहे, ऊष्माभरी, मधुर और भास्वर शिखा जो सारे अहं और अन्धकार को मिटा दे; उस 'परम कृपा' के प्रति कृतज्ञता की दीपशिखा जो साधक को उसके लक्ष्य तक ले जाती है—और जितना वह कृतज्ञ होगा, 'कृपा' की इस क्रिया को जितना पहचानेगा और इसके प्रति आभार मानेगा, उतना ही छोटा होगा उस तक जाने का पन्थ।

—'सफेद गुलाब' से, पृ. १५५

... सभी गतियों में, वह जो सबसे अधिक आनन्द प्रदान करती है—विशुद्ध आनन्द, जो अहंकार से लाञ्छित नहीं होता—वह है सहज कृतज्ञता।

यह बहुत विशेष भाव है। यह प्रेम नहीं है, यह आत्मदान नहीं है, यह पूरा-पूरा आनन्द है। एकदम भरपूर। इसकी तुलना और किसी से नहीं की जा सकती, बस, इसी से इसकी तुलना की जा सकती है। यह ऐसी चीज़ है जो तुम्हें विस्तारित करती है, जो तुम्हें भर देती है, यह कितनी भव्य होती है!

मानव चेतना की पहुँच में जितनी भी गतियाँ हैं, निश्चित रूप से यह ऐसी है जो तुम्हें तुम्हारे अहंकार से सबसे ज़्यादा बाहर खींच निकालती है।...

जब तुम इस स्पन्दन के अन्दर, ठीक इसकी पवित्रता में प्रवेश कर सकोगे तब तुम तुरन्त यह समझ जाओगे कि इसके अन्दर वही समान गुण है जो 'प्रेम' में होते हैं : यह सार्वभौम है।... अन्ततोगत्वा, ज़रा सी विभिन्न रंग-छटा लिये वस्तुतः कृतज्ञता प्रेम का ही तात्त्विक स्पन्दन है।

एक शिष्य के साथ श्रीमाँ के वार्तालाप से *२१ दिसम्बर १९६३*

'कृपा' को कृतज्ञतापूर्वक स्वीकारने का क्या तरीक़ा है?

आहा! सबसे पहले तो तुम्हें उसकी आवश्यकता अनुभव करनी होगी।

यह सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण बात है। तुम्हारे अन्दर एक प्रकार की आन्तरिक नम्रता होनी चाहिये जो इस बात का भान कराती है कि तुम भागवत 'कृपा' के बिना कितने असहाय हो, कि सचमुच, उसके बिना तुम अपूर्ण और शक्तिहीन रहते हो। आरम्भ में, यही सबसे पहली चीज़ है।

यह एक ऐसा अनुभव है जिसे भली-भाँति किया जा सकता है। जब ऐसे लोग, जो कुछ भी नहीं जानते, अपने-आपको बहुत कठिन परिस्थितियों में पाते हैं, या किसी ऐसी समस्या में उलझ जाते हैं जिसे हल करना ही होगा, या जैसा कि मैंने अभी कहा, किसी ऐसे आवेग में आ जाते हैं जिसे जीतना ज़रूरी है, या अगर किसी वस्तु ने उन्हें व्याकुल कर दिया है... और उस समय वे अपने-आपको खोया-खोया-सा अनुभव करते हैं, उनकी समझ में नहीं आता कि वे क्या करें—उनका मन, उनका संकल्प, उनकी भावनाएँ, कोई भी सहायता नहीं करते—वे नहीं जानते कि क्या करें, तब यह होता है; उनके अन्दर से एक पुकार-सी उठती है, एक ऐसे के प्रति पुकार जो वह सब कर सकता है जिसे वे नहीं कर सकते। व्यक्ति उस चीज़ के प्रति अभीप्सा करता है जो वह काम करने में समर्थ है जिसे वह स्वयं नहीं कर सकता।

यह पहली शर्त है। और फिर, अगर तुम्हें इस बात का भान हो जाये कि केवल भागवत 'कृपा' ही यह कर सकती है, कि तुम अपने-आपको जिस परिस्थिति में पाते हो उसमें से केवल 'कृपा' ही तुम्हें उबार सकती है, वही तुम्हें उसमें से निकलने के लिए उपाय बता सकती है और बल दे सकती है, तो स्वभावतः, तुम्हारे अन्दर एक तीव्र अभीप्सा जागेगी—एक ऐसी चेतना जो अपने-आपको उद्घाटन में बदल लेगी। अगर तुम आवाहन करो, अभीप्सा करो और उत्तर पाने की आशा करो, तो तुम बिलकुल स्वाभाविक रूप से अपने-आपको भागवत 'कृपा' की ओर खोलोगे।

और बाद में—तुम्हें इसकी ओर बहुत ध्यान देना चाहिये *(माताजी ओठों पर अँगुली रखती हैं)*—भागवत 'कृपा' तुम्हें उत्तर देगी, भागवत 'कृपा' तुम्हें कष्ट में से उबार लेगी, भागवत 'कृपा' तुम्हें समस्या का समाधान

बतलायेगी या तुम्हें अपनी कठिनाई में से निकल आने में सहायता देगी। लेकिन जब तुम कष्ट से छुटकारा पा जाओ और कठिनाई में से निकल आओ, तो यह न भूलो कि भागवत 'कृपा' ने ही तुम्हें उबारा है, यह न सोचो कि यह तुमने स्वयं किया है। क्योंकि वास्तव में, यह महत्त्वपूर्ण बात है। कठिनाई ख़तम होते ही अधिकतर लोग कहते हैं: "आख़िर, मैंने अपने-आपको बड़ी अच्छी तरह कठिनाई में से निकाल लिया।"

तो यह बात है। इस तरह तुम दरवाज़ा बन्द कर देते हो, उस पर ताला जड़ कर चटकनी चढ़ा देते हो, और फिर तुम और कुछ नहीं पा सकते। इस आन्तरिक मूढ़ता को दूर करने, और तुम्हें यह अनुभव कराने के लिए कि तुम कुछ भी नहीं कर सकते, तुम्हें फिर से किसी तीव्र व्यथा की, किसी भयानक कठिनाई की ज़रूरत होती है। क्योंकि तभी तुम ज़रा-सा खुलते और लचीले बनते हो जब तुम्हें यह पता लग जाये कि तुम बलहीन हो। लेकिन जब तक तुम यह समझते हो कि जो कुछ तुम करते हो वह तुम्हारे अपने कौशल और अपनी क्षमता पर निर्भर है, तो सचमुच, तुम केवल एक दरवाज़ा नहीं, एक के बाद एक बहुत-से दरवाज़े बन्द कर देते हो, समझे, और उनमें चटकनी लगा देते हो। तुम अपने-आपको एक किले में बन्द कर लेते हो, और वहाँ कोई चीज़ प्रवेश नहीं कर सकती। यह सबसे बड़ी त्रुटि है: आदमी बहुत ज़ल्दी भूल जाता है। बिलकुल स्वाभाविक रूप में, वह अपनी निजी क्षमता से सन्तुष्ट रहता है।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ६, पृ. ३६४-६६

तत्त्वतः अनुकम्पा और कृतज्ञता चैत्य गुण हैं। वे चेतना में तभी प्रकट होते हैं जब चैत्य सत्ता क्रियात्मक जीवन में भाग लेती है।

प्राण और भौतिक उन्हें दुर्बलताओं के रूप में अनुभव करते हैं, क्योंकि वे उनके संवेगों की मुक्त अभिव्यक्ति को दबा देते हैं, जो सामर्थ्य की शक्ति पर आधारित होते हैं।

भौतिक रूप में, स्थूल रूप में, इस पृथ्वी पर, कृतज्ञता के अन्दर ही शुद्धतम आनन्द का स्रोत पाया जाता है।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड १५, पृ. ३०९, २१२

ग्रहणशीलता

जब नीचे की ग्रहणशीलता ऊपर से आती हुई उस शक्ति के बराबर हो जाये जो अभिव्यक्त होना चाहती है तो कहा जा सकता है कि पूर्णता प्राप्त हो गयी है, यद्यपि वह प्रगतिशील बनी रहती है।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड १५, पृ. ८६

माँ, ग्रहणशीलता किस बात पर निर्भर करती है?

इसका पहला आधार है सच्चाई—व्यक्ति सचमुच ग्रहण करना चाहता है या नहीं—और फिर... हाँ, मेरे विचार में इसके लिए मुख्य वस्तुएँ हैं सच्चाई और नम्रता। घमण्ड जितना तुम्हारे हृदय के द्वार बन्द कर देता है उतना कोई और वस्तु नहीं करती। जब तुम अपने में सन्तुष्ट रहते हो, तो यह तुम्हारे अन्दर का अहं ही होता है जो तुम्हें यह मानने ही नहीं देता कि तुम्हारे अन्दर भी कोई कमी है, कि तुम भी ग़लतियाँ करते हो, कि तुम भी अधूरे हो, अपूर्ण हो, कि तुम...। जानते हो, तुम्हारी प्रकृति में कोई ऐसी चीज़ मौजूद है जो इस प्रकार कठोर पड़ जाती है, जो अपना दोष स्वीकार करना नहीं चाहती—यही चीज़ तुम्हें उच्चतर वस्तु को ग्रहण करने से रोकती है। बहरहाल, इस अनुभव को प्राप्त करने के लिए तुम कोशिश कर सकते हो। यदि तुम संकल्प-शक्ति के बल पर अपनी सत्ता के एक छोटे-से भाग से भी यह कहलवा सको कि "ओह, हाँ, हाँ, यह मेरी भूल थी, मुझे ऐसा नहीं होना चाहिये था, मुझे ऐसा करना और सोचना नहीं चाहिये था, हाँ, यह मेरा दोष है," यदि तुम उससे यह स्वीकार करा सको तो शुरू-शुरू में तो, जैसा कि मैंने अभी-अभी कहा, तुम्हें इससे कष्ट होगा, पर यदि तुम इस पर अड़े रहो, जब तक कि वह पूरी तरह स्वीकृत न हो जाये, तो वह भाग तत्काल ही खुल जायेगा—वह खुल जायेगा और प्रकाश का पुञ्ज उसके अन्दर प्रवेश कर जायेगा, और तब तुम बाद में इतने प्रसन्न और आनन्दित हो उठोगे कि तुम अपने से पूछोगे: "आख़िर क्यों, मैं इतने समय तक इसका प्रतिरोध कर रहा था? कैसा मूर्ख था मैं!"

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ६, पृ. १३३-३४

सरलता

सचमुच यही लगता है कि उस युग (बौद्ध) के बाद मानव मन ने काफ़ी प्रगति कर ली है। विचार ज़्यादा जटिल बन गया है, मनोविज्ञान ज़्यादा गम्भीर, इतना ज़्यादा कि ये तर्क प्रायः बचकाने लगते हैं। लेकिन, अगर तुम इनको आचरण में लाओ तो देखोगे कि अभी तक तुम उसी स्तर पर हो और अगर विचार ने प्रगति की है तो आचरण बेहतर होने की जगह बदतर हालत में है; और इन पदों में थोड़ी-बहुत स्वस्थ, बालोचित सरलता है, विकृति का अभाव है जो दुर्भाग्यवश अब मानवजाति को प्राप्त नहीं है।

उस ज़माने में नैतिक स्वास्थ्य था जो अब पूरी तरह अदृश्य हो गया है। इन तर्कों पर तुम मुस्कुराते हो, लेकिन जो यहाँ सिखाया गया है उसे व्यवहार में लाना अब पहले से कहीं अधिक कठिन हो गया है। ऐसा लगता है कि एक तरह का दम्भ, ढोंग, शठतापूर्ण दुमुँहापन मानव सत्ता में और विशेष रूप से जीवन-पद्धति में घुस पड़े हैं, और मनुष्य बहुत ही घातक तरीक़े से अपने-आपको धोखा देने लगे हैं।

उस ज़माने में कोई कह सकता था: "बुरा मत करो, तुम्हें सज़ा मिलेगी।" उन दिनों हृदय और मन भी सरल थे, लोग कहते थे: "हाँ, बुरा न करना ही अच्छा है, वरना सज़ा मिलेगी," लेकिन आजकल, व्यंग-भरे स्मित के साथ व्यक्ति कहता है: "ओ! मैं सज़ा से बच निकलने का उपाय कर लूँगा।"

ऐसा लगता है कि मानसिक क्षमता बढ़ गयी है, मानसिक शक्ति का विकास हुआ-सा दीखता है, मनुष्य विचारों से खेलने के लिए अधिक सक्षम दीखता है, वह सब तत्त्वों पर मानसिक रूप से शासन करता है; लेकिन साथ ही मनुष्य ने सरल और स्वस्थ निर्दोषता को खो दिया है जो प्रकृति के सामीप्य में रहने वाले लोगों में पायी जाती थी जिन्हें विचारों के साथ खेलना कम आता था। इस तरह सारी मानवजाति एक बहुत ही ख़तरनाक मोड़ पर आकर खड़ी दीखती है। जो लोग इस सार्वजनिक भ्रष्टता का हल ढूँढ़ते हैं वे प्राचीन काल की सरलता की ओर मुड़ने का उपदेश देते हैं, लेकिन यह एकदम असम्भव है: तुम पीछे नहीं जा सकते।

तुम्हें आगे-आगे जाना चाहिये, आगे बढ़ना चाहिये, और भी बड़ी ऊँचाइयों पर चढ़ना चाहिये और भोग-विलास और व्यक्तिगत सम्पत्ति की

लालचभरी खोज से ऊपर उठना चाहिये, सज़ा के डर से नहीं, परलोक की सज़ा के डर से भी नहीं, बल्कि एक नये सौन्दर्य-बोध के विकास के कारण और सत्य तथा ज्योति की प्यास के कारण। एक ऐसी समझ के द्वारा कि अपने-आपको विशाल बना कर, ज्योतिर्मय बना कर, प्रगति के उत्साह से भर कर ही हम सम्पूर्ण सत्य और स्थिर सुख को पा सकेंगे।

ऊपर उठना चाहिये और अपने-आपको विशाल बनाना चाहिये—ऊपर उठना... और अपने-आपको विशाल बनाना।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ३, पृ. २५९-६०

वस्तुतः भौतिक सत्ता में एक प्रकार की सरलता होती है और सद्भावना भी (जो सदा बहुत ज्ञानपूर्ण नहीं होती, बिलकुल नहीं), किन्तु ऐसी सरलता और सद्भावना होती है जो इसे प्राण के आवेगों या मन की छलनाओं की अपेक्षा अन्तरात्मा के अधिक निकट सम्बन्ध में ले आती है। और शायद इसीलिए बच्चों में उनकी आन्तरात्मिक सत्ता अधिक शान्ति से रह सकती है, क्योंकि वहाँ मानसिक और प्राणिक विरोध उन्हें सारे समय झकझोरते नहीं रहते।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ६, पृ. ६

जैसे ही किसी अभिव्यक्ति से समस्त प्रयास लुप्त हो जाता है, सारी चीज़ बहुत सरल हो जाती है, खिलते हुए फूल की तरह सरल जो बिना शोर मचाये, बिना प्रचण्ड इंगितों के अपनी सुन्दरता को प्रकट करता और सुगन्ध को फैलाता है। और इस सरलता में बड़ी-से-बड़ी शक्ति होती है, ऐसी शक्ति जो कम-से-कम मिश्रित होती है और कम-से-कम हानिकर प्रतिक्रियाओं को जगाती है।...

सरलता, सरलता! 'तेरी उपस्थिति' की शुद्धि कितनी मधुर है!...

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड १, पृ. १७

उदार हृदय हमेशा पुराने दुर्व्यवहारों को भूल जाता है और दुबारा सामञ्जस्य लाने के लिए तैयार रहता है।

आओ, हम सब उसको भूल जायें जो अतीत में अन्धकारमय और

कुरूप रहा है, ताकि ज्योतिर्मय भविष्य को ग्रहण करने के लिए हम अपने-आपको तैयार कर सकें।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड १७, पृ. ४६७

"संसार एक महान् परिवर्तन की तैयारी में है। क्या तुम सहायता करोगे?"

यह कौन-सा महान् परिवर्तन है जिसके लिए संसार तैयारी कर रहा है?

चेतना का परिवर्तन। और जब हमारी चेतना बदल जायेगी तब हम जान लेंगे कि यह परिवर्तन क्या है।

हम इस परिवर्तन को लाने में कैसे सहायता दे सकते हैं?

परिवर्तन के आने में हमारी सहायता की ज़रूरत नहीं है, लेकिन हमें अपने-आपको उस चेतना के प्रति खोलना चाहिये ताकि उसका आना हमारे लिए व्यर्थ न हो।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड १२, पृ. २८३-८४

सर्वांगीण सरलता

वह सरलता जो सम्पूर्ण सच्चाई का परिणाम होती है।

(श्रीमाँ द्वारा दिया गया पुष्प का आध्यात्मिक अर्थ)

अंग्रेज़ी नाम : Creeping daisy

भाग तीन :

सुन्दर जीवन के साधन

"अपने-आपको कहानी सुनाना"

... ऐसे बच्चे हैं जो ऐसा करना जानते हैं, वे अपने स्वप्नों को जारी रखते हैं। प्रत्येक रात जब वे बिछौने पर सोते हैं तो उसी स्थान पर वापस चले जाते हैं और अपना स्वप्न जारी रखते हैं।

जब मैं बच्चा था तब मैं ऐसा किया करता था।

अब तुम बच्चे नहीं रहे, यह दुःख की बात है!

क्योंकि उन दिनों मेरा दूसरा कोई कार्य नहीं था।

आह! अच्छा, फिर से बालक बन जाओ और तुम फिर से यह करना सीख जाओगे।

इससे अधिक मज़ेदार बात और कोई नहीं है। यह रातें बिताने का बड़ा सुहाना तरीक़ा है। तुम एक कहानी आरम्भ करते हो, फिर, जब तुम्हारे जागने का समय होता है, तुम अन्तिम वाक्य पर पूर्ण विराम लगा देते हो और अपने शरीर में वापस लौट आते हो। अगली रात फिर उसे आरम्भ करते हो, पृष्ठ को फिर से खोलते हो और अपनी कहानी फिर से आरम्भ करते हो और जितनी देर तक बाहर रहते हो पूरे समय लिखते रहते हो। और फिर तुम सारी चीज़ों को अच्छी तरह सजाते हो—उन्हें अच्छे ढंग से व्यवस्थित करना चाहिये, उसे बहुत सुन्दर होना चाहिये। और जब वापस आने का समय होता है, तुम फिर से दोबारा पूर्ण विराम लगा देते हो और उन चीज़ों से कहते हो : "जब तक मैं वापस नहीं आ जाता तब तक एकदम चुपचाप यहीं रहना!" और तुम अपने शरीर में वापस आ जाते हो। तुम इस चीज़ को रोज़ शाम को आरम्भ करते हो और परियों की अद्‌भुत कहानियों की एक पुस्तक लिखते हो—बशर्ते कि तुम जब जागो तो उन्हें याद रखो।

परन्तु यह इस बात पर निर्भर करता है कि हम सारे दिन एक निश्चल अवस्था में बने रहें, ठीक है न?

नहीं, यह निर्भर करता है बच्चे की सरलता और सच्चाई पर।

और जो कुछ होता है उस पर विश्वास होने पर, मन की आलोचनात्मक भावना का अभाव होने पर, और हृदय की सरलता, और एक युवा और क्रियाशील ऊर्जा पर—इन सभी चीज़ों पर—अन्तर की एक प्रकार की प्राणिक उदारता पर निर्भर करता है। हमें अत्यधिक अहंकारपूर्ण नहीं होना चाहिये, हमें न तो बहुत अधिक लोभी, न बहुत व्यावहारिक, न अत्यधिक उपयोगितावादी होना चाहिये—निस्सन्देह ऐसी बहुत-सी चीज़ें हैं जो हमारे अन्दर नहीं होनी चाहियें... बच्चों की तरह। और फिर, हमारे अन्दर होनी चाहिये एक सुस्पष्ट कल्पनात्मक शक्ति, क्योंकि—ऐसा लगता है कि मैं तुमसे मूर्खतापूर्ण बातें कर रही हूँ, पर यह बिलकुल सही है—एक ऐसा जगत् है जिसमें तुम सर्वोच्च रूप-स्रष्टा होते हो : वह है तुम्हारा अपना ही विशिष्ट प्राणमय जगत्। तुम वहाँ सर्वोच्च निर्माता होते हो और, यदि तुम्हें पता हो कि उसका उपयोग कैसे किया जाता है तो तुम अपना एक अद्‌भुत जगत् बना सकते हो। यदि तुम्हारे अन्दर एक कलात्मक या कविसुलभ चेतना हो, यदि तुम्हें सामञ्जस्य, सौन्दर्य से प्रेम हो तो तुम वहाँ एक आश्चर्यजनक वस्तु का निर्माण कर लोगे जो भौतिक अभिव्यक्ति के अन्दर उतर आने की कोशिश करेगी।

जब मैं छोटी बच्ची थी, मैं इसे "अपने-आपको कहानी सुनाना" कहा करती थी। यह अपने मस्तिष्क में, शब्दों के द्वारा कुछ कहना बिलकुल नहीं है : यह उस स्थान पर चले जाना है जो तरोताज़ा और शुद्ध है, और... वहाँ एक अद्‌भुत कहानी का निर्माण करना है। और यदि तुम्हें पता हो कि इस तरीक़े से अपने-आपको कोई कहानी कैसे सुना सकता है, और वह वास्तव में सुन्दर, वास्तव में सुसमञ्जस, वास्तव में शक्तिशाली और अच्छी तरह सुव्यवस्थित हो तो यह कहानी तुम्हारे जीवन में संसिद्ध हो सकती है—शायद ठीक उसी रूप में नहीं जिसमें तुमने उसकी सृष्टि की थी, पर जो कुछ तुमने बनाया था उसकी कम या अधिक परिवर्तित भौतिक अभिव्यक्ति के रूप में संसिद्ध हो सकती है।

इसमें सम्भवतः वर्षों लग सकते हैं, परन्तु तुम्हारी कहानी तुम्हारे जीवन को सुसंगठित करने में प्रवृत्त रहेगी।

परन्तु बहुत थोड़े-से लोग ही ऐसे होते हैं जो यह जानते हैं कि कोई सुन्दर कहानी कैसे कही जाती है; और फिर वे उसमें सर्वदा भयावह वस्तुओं को मिला देते हैं जिनके लिए बाद में वे पछताते हैं।

यदि कोई एक उत्तम कहानी की सृष्टि कर सके और उसमें कोई भी भयप्रद वस्तु न मिलाये, सौन्दर्य के सिवा उसमें और कुछ न हो तो प्रत्येक के जीवन पर उस कहानी का **बहुत अधिक** प्रभाव पड़ेगा। और यही बात है जिसे लोग नहीं जानते।

यदि व्यक्ति को यह पता हो कि प्राणमय रूपों के इस जगत् में इस शक्ति का, इस सृजनात्मिका शक्ति का उपयोग कैसे किया जाता है, जब मनुष्य अभी एक बच्चा, एक बहुत नन्हा बच्चा होता है तभी उसे यह ज्ञात हो कि इसका प्रयोग कैसे किया जाता है... क्योंकि सचमुच तभी—अपने बचपन में ही—व्यक्ति अपनी भौतिक भवितव्यता का निर्माण करता है। परन्तु सामान्यतया, जो लोग तुम्हारे इर्द-गिर्द रहते हैं, कभी-कभी तुम्हारे अपने छोटे-छोटे मित्र तक, पर सबसे अधिक माता-पिता और अध्यापक इसमें हस्तक्षेप करते हैं और तुम्हारे लिए सब कुछ बर्बाद कर देते हैं, इतनी अच्छी तरह बर्बाद कर देते हैं कि ऐसा बहुत कम ही होता है कि वह चीज़ पूर्ण रूप से सफल हो पाये।

अन्यथा, यदि उसे उस ढंग से, एक बच्चे की सहज-स्वाभाविक सरलता के साथ किया जाये तो तुम अपने लिए एक भव्य जीवन का संगठन कर सकते हो—मैं भौतिक जगत् की बात कह रही हूँ।

बचपन के सपने प्रौढ़ावस्था के यथार्थ सत्य होते हैं।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ८, पृ. १४१-४३

सभी तथाकथित मानव बुद्धिमत्ता की जटिलताओं के परे 'भागवत कृपा' की आलोकमयी सरलता कार्य करने के लिए प्रस्तुत है, यदि हम उसे कार्य करने दें। जीवन बिलकुल सरल और आसान हो सकता था अगर मनुष्य का मन उसमें इतनी सारी व्यर्थ की जटिलताएँ न डाल देता।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड १४, पृ. ३७८

स्वयं को व्यवस्थित करो

हमारे अन्दर ही परस्पर-विरोधी इच्छाएँ होती हैं।

हाँ, बहुत-सी। यह सबसे पहली खोजों में से एक है। एक भाग चीज़ों को इस तरह चाहता है; और फिर अगले क्षण किसी और तरह, और तीसरी बार किसी और ही तरह! इसके अलावा, यह भी होता है: एक चीज़ कुछ चाहती है और दूसरी ना करती है। तो? लेकिन ठीक यही चीज़ है जिसका तुम्हें पता लगाना चाहिये अगर तुम अपने-आपको संगठित करने की ज़रा भी इच्छा रखते हो। सिनेमा की तरह अपने-आपको परदे पर प्रक्षिप्त क्यों न कर लो और फिर अपने-आपको उस पर चलते देखो? कैसा मज़ेदार है यह!

यह पहला क़दम है।

तुम अपने-आपको परदे पर प्रक्षिप्त करो और फिर जो कुछ वहाँ गतिशील है उसे ध्यान से देखो, वह कैसे गति करता है और क्या होता है। तुम एक छोटा-सा नक्शा बना लो, तब यह बहुत मज़ेदार हो जाता है। और तब, कुछ देर बाद, जब तुम देखने के बिलकुल अभ्यस्त हो जाओ तो तुम और एक क़दम बढ़ सकते हो और एक निश्चय ले सकते हो। या इससे भी बड़ा क़दम: तुम व्यवस्थित कर सकते हो—सजा सकते हो, हर चीज़ को लेकर, हर चीज़ को उसके स्थान पर रखो, इस तरह व्यवस्थित करो कि सीधी, सार्थक गति हो सके। तब तुम अपनी दिशा के बारे में अभिज्ञ होकर कह सकते हो: "बहुत अच्छा, ऐसा होगा; मेरा जीवन इस तरह विकसित होगा, क्योंकि यही मेरी सत्ता का सत्य है। अब, मैंने इस सबको अपने अन्दर व्यवस्थित कर लिया है। हर चीज़ अपने स्थान पर रख दी गयी है, इसलिए स्वभावतः एक केन्द्रीय स्थितिविन्यास हो रहा है। मैं इस स्थितिविन्यास के अनुसार चल रहा हूं। एक क़दम और, और मुझे पता होगा कि मुझे क्या होगा, क्योंकि मैं ही उसका निश्चय कर रहा हूँ...।" मैं नहीं जानती, मैं तुम्हें यह सब सुना रही हूँ; मुझे यह सब बहुत ही ज़्यादा मनोरञ्जक लगता था, संसार में सबसे ज़्यादा मनोरञ्जक। ऐसी कोई चीज़ न थी, कुछ भी न था, जो मेरे लिए इससे ज़्यादा मज़ेदार हो।

यह मेरे साथ तब हुआ... मैं पाँच या छः या सात वर्ष की थी (सात

की अवस्था में यह चीज़ बहुत गम्भीर हो गयी थी)। मेरे पिताजी को सरकस बहुत पसन्द था। उन्होंने आकर मुझसे कहा: "मेरे साथ चलो, मैं रविवार को सरकस देखने जा रहा हूँ।" मैंने कहा: "नहीं, मैं सरकस देखने की अपेक्षा बहुत ज़्यादा मज़ेदार काम कर रही हूँ।" या फिर, मेरे छोटे मित्र किसी जगह मिलने के लिए बुलाते जहाँ सब मिल कर खेलने और मौज करने वाले थे, और मैं कहती: "नहीं, मुझे यहाँ बहुत मज़ा आता है...।" और बात बहुत सच्ची थी। मैं बन न रही थी: मेरे लिए चीज़ ऐसी ही थी, यह बिलकुल सच था। सारी दुनिया में इससे बढ़ कर आनन्ददायी कुछ न था।

और मुझे विश्वास है कि जो भी उसी ताज़गी और सच्चाई के साथ यह करेगा उसे आनन्ददायक परिणाम मिलेंगे।... इस सबको अपने सामने परदे पर रखना और जो कुछ हो रहा है उसका अवलोकन करना। और पहला क़दम है, जो कुछ हो रहा है उसे जानना और तब तुम्हें यह कोशिश करनी चाहिये कि अगर कोई चीज़ तुम्हें अप्रिय लगती है तो उसके सामने आँखें बन्द न कर लो! तुम्हें आँखें पूरी तरह खुली रखनी चाहियें और इस तरह, हर चीज़ को सामने परदे पर रखना चाहिये। तब तुम एक मज़ेदार खोज करते हो। और तब अगला क़दम है यह कहना: "चूँकि यह सब मेरे अन्दर हो रहा है तो मैं इस चीज़ को इस तरह और उस चीज़ को उस तरह और फिर इस चीज़ को यूँ क्यों न रखूँ? क्या इस तरह मैं कुछ अधिक तर्कसंगत, सार्थक चीज़ न करूँगा? मैं उस चीज़ को हटा क्यों न दूँ जो रास्ता रोक रही है, ये परस्पर-विरोधी इच्छाएँ? क्यों? और सत्ता में इसका क्या अर्थ है? यह यहाँ क्यों है? अगर इसे वहाँ रखा जाये, क्या यह मुझे नुकसान पहुँचाने की जगह फ़ायदा न पहुँचायेगी?" और इसी तरह।

और थोड़ा-थोड़ा करके, थोड़ा-थोड़ा करके, तुम ज़्यादा स्पष्ट देखते हो और तब तुम देखते हो कि तुम्हें इस तरह क्यों बनाया गया है, वह कौन-सी चीज़ है जो तुम्हें करनी है—जिसके लिए **तुमने जन्म लिया है**। और तब, बिलकुल स्वाभाविक रूप से, चूँकि सब कुछ इस चीज़ के आने के लिए व्यवस्थित किया गया है, रास्ता सीधा हो जाता है और तुम पहले से कह सकते हो: "यह इस तरह होगा।" और जब चीज़ें बाहर से आकर इस सबको अस्तव्यस्त करना चाहती हैं तो तुम कह सकते हो: "नहीं, मैं

इसे स्वीकार करता हूँ, इससे मुझे सहायता मिलती है; मैं उसे अस्वीकार करता हूं, वह नुकसान पहुँचाती है।" और फिर, कुछ वर्षों के बाद तुम अपने-आपको उसी तरह वश में कर सकते हो जैसे कोई घोड़े को वश में करता है : तुम जो चाहते हो करते हो और जैसे चाहो वैसे करते हो और जहाँ चाहते हो वहाँ जाते हो।

मुझे लगता है कि यह कष्ट उठाने-लायक है। मेरा ख़याल है कि यह सबसे ज़्यादा मनोरञ्जक चीज़ है।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ५, पृ. २१९-२१

रामबाण

देखो, जगत् की वर्तमान अवस्था में परिस्थितियाँ हमेशा कठिन रही हैं। सारा संसार कलह और संघर्ष की स्थिति में है—अभिव्यक्त होने की इच्छुक सत्य और प्रकाश की शक्तियों और उन सबके बीच संघर्ष जो बदलना नहीं चाहता, जो ऐसे भूतकाल का प्रतिनिधि है जो स्थिर और कठोर है, जो जाने से इन्कार करता है। स्वभावतः, हर व्यक्ति अपनी कठिनाइयों का अनुभव करता है और उसे उन्हीं बाधाओं का सामना करना पड़ता है।

तुम्हारे लिए बस एक ही रास्ता है। वह है पूर्ण, समग्र और बिना शर्त के समर्पण का। इससे मेरा मतलब है, न केवल अपनी क्रियाओं, कर्मों, महत्त्वाकांक्षाओं को छोड़ देना बल्कि अपने सभी भावों को भी छोड़ देना, यानी, तुम जो करते हो, तुम जो हो वह सब अनन्य रूप से भगवान् के लिए हो। तब तुम अपने-आपको मानव प्रतिक्रिया के घेरे से ऊपर अनुभव करते हो—केवल उनसे ऊपर ही नहीं बल्कि भागवत कृपा की दीवार द्वारा उनसे सुरक्षित रहते हो। एक बार तुम्हारे अन्दर कामनाएँ न रहें, आसक्तियाँ न रहें, एक बार तुम मनुष्यों से, चाहे वे कोई भी क्यों न हों, पारितोषिक लेने की समस्त आवश्यकताओं को त्याग दो—यह जानो कि एकमात्र पाने-योग्य पारितोषिक वह है जो परम प्रभु से आता है और जो कभी निराश नहीं करता—एक बार तुम सभी बाहरी सत्ताओं और चीज़ों की आसक्ति छोड़ दो, तो तुम तुरन्त अपने हृदय में उस परम उपस्थिति, उस परम शक्ति, उस परम कृपा का अनुभव करते हो जो हमेशा तुम्हारे साथ होती है।

कोई और उपचार नहीं है। बिना अपवाद **हर एक के लिए** यही एकमात्र उपचार है। वे सभी जो पीड़ित हैं, उनसे यही एक बात कहनी चाहिये : समस्त दुःख इस बात का सूचक है कि समर्पण समग्र नहीं है। तो जब तुम अपने अन्दर इस तरह के "प्रहार" का अनुभव करो तो यह कहने की बजाय, "ओह, यह ख़राब है" या "यह परिस्थिति कठिन है", तुम यह कहो, "मेरा समर्पण पूर्ण नहीं है," तो यह ठीक होगा। और फिर तुम उस परम कृपा का अनुभव करोगे जो तुम्हारी सहायता करती है, जो तुम्हारा पथ-प्रदर्शन करती है और तुम आगे बढ़ते चले जाते हो। और फिर एक दिन तुम उस शान्ति में उभर आते हो जिसे कुछ भी विचलित नहीं कर सकता। तुम सभी प्रतिरोधी शक्तियों, प्रतिरोधी गतिविधियों, प्रहारों, ग़लतफ़हमियों, दुर्भावनाओं का उत्तर उसी मुस्कान के साथ देते हो जो 'भागवत कृपा' में पूर्ण विश्वास से आती है। और बचने का यही **एकमात्र** तरीक़ा है, कोई दूसरा नहीं है।

यह जगत् संघर्ष, दुःख-दर्द, कठिनाइयों, तनावों का जगत् है; यह इन्हीं से बना है। यह अभी तक बदला नहीं है, बदलने में कुछ समय लगेगा। और हर एक के लिए बाहर निकलने की सम्भावना है। अगर तुम भागवत कृपा की उपस्थिति का सहारा लो, तो बाहर निकलने का यही **एकमात्र** उपाय है। मैं दो-तीन दिनों से निरन्तर तुमसे यही कहती आ रही हूँ।...

लेकिन यह बल मैं कहाँ से पाऊँ?

अपने अन्दर से। भागवत 'उपस्थिति' तुम्हारे अन्दर है। वह तुम्हारे अन्दर है। तुम उसे बाहर ढूँढ़ते हो; अन्दर देखो। वह तुम्हारे अन्दर है। भागवत 'उपस्थिति' वहाँ मौजूद है। तुम बल पाने के लिए औरों की प्रशंसा चाहते हो, वह तुम्हें कभी न मिलेगी। बल तुम्हारे अन्दर है। अगर तुम चाहो, तो उसकी अभीप्सा कर सकते हो जो तुम्हें परम लक्ष्य, परम प्रकाश, परम ज्ञान, परम प्रेम प्रतीत हो। लेकिन वह तुम्हारे अन्दर है—वरना तुम कभी उसके साथ सम्पर्क में न आ पाते। अगर तुम अपने अन्दर पर्याप्त गहरे जाओ तो वह अभीप्सा तुम्हें वहाँ एक ज्वाला की तरह मिलेगी जो हमेशा सीधी ऊपर की ओर जलती है।

और यह मत सोचो कि यह करना बहुत कठिन है। यह कठिन इसलिए है क्योंकि दृष्टि हमेशा बाहर की ओर मुड़ी होती है और तुम परम उपस्थिति का अनुभव नहीं करते। हर क्षण यह जानने के लिए कि क्या करना चाहिये, कैसे करना चाहिये, बाहर सहारा ढूँढ़ने की जगह अगर तुम अन्दर, भागवत ज्ञान पर एकाग्र होओ और प्रार्थना करो, और अगर तुम स्वयं जो कुछ हो उसे दे दो, जो कुछ करो पूर्णता पाने के लिए करो, तो तुम अनुभव करोगे कि सहारा मौजूद है, हमेशा पथ-प्रदर्शन कर रहा है, रास्ता दिखा रहा है। और अगर कोई समस्या आये तो उससे युद्ध करने की इच्छा के स्थान पर तुम उसे परम प्रज्ञा के हवाले कर दो कि वह सभी दुर्भावनाओं, सभी ग़लतफ़हमियों, सभी बुरी प्रतिक्रियाओं के प्रति जो उचित है वह कर ले। अगर तुम पूरी तरह से समर्पण कर दो तो फिर उसके साथ तुम्हारा सम्बन्ध नहीं रह जाता; वह परम प्रभु की चीज़ हो जाती है जो उसका भार ले लेते हैं, जो इसके सम्बन्ध में क्या करना चाहिये यह किसी भी व्यक्ति से ज़्यादा अच्छी तरह जानते हैं। यही एकमात्र तरीक़ा है, यही एकमात्र तरीक़ा है। तो, मेरे बच्चे।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड १५, पृ. ४४१-४३

... भले कैसी भी आशाएँ क्यों न की गयी हों, लेकिन अनुभव से यह कभी नहीं लगा कि अपने-आपमें शिक्षा और मानसिक प्रशिक्षण मनुष्य को बदल सकते हैं। वे तो उसे केवल मानव के व्यक्तिगत और सामूहिक अहं के आत्मप्रतिष्ठापन के लिए अधिक सूचना और अधिक सक्षम यन्त्र दे सकते हैं, परन्तु मानव अहं को बदले बिना वह का वही छोड़ देते हैं।

... मानव-प्रकृति के परिवर्तन के बिना मानव-जीवन के सच्चे परिवर्तन की आशा करना अयुक्तिसंगत और अनाध्यात्मिक प्रस्ताव है। यह किसी अस्वाभाविक और अवास्तविक वस्तु की, किसी असम्भव चमत्कार की माँग करना होगा।

CWSA खण्ड २२, पृ. १०९४, १०९६ —श्रीअरविन्द

मानवजाति जिस भयंकर दुर्दशा में धँसी हुई है उससे चेतना के आमूल परिवर्तन के सिवा उसे कोई नहीं बचा सकता।

ये सब तथाकथित "व्यावहारिक" उपाय बचकाने हैं जिनके द्वारा मनुष्य अपने-आपको अन्धा बना लेते हैं ताकि वे सच्ची आवश्यकता और एकमात्र उपचार को न देख सकें।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड १५, पृ. ६७

सच्चा आराम आन्तरिक जीवन में होता है, जिसके आधार में होती है शान्ति, नीरवता तथा कामना की अनुपस्थिति। इसके सिवाय सचमुच और कोई आराम नहीं है—क्योंकि इसके बिना शरीर की मशीन—चाहे तुम चाहो या न चाहो—चलती ही रहती है। आन्तरिक मुक्ति ही सच्चा उपचार है।

CWSA खण्ड ३१, पृ. ७५३ —श्रीअरविन्द

जीवन का उद्देश्य

हाँ, पार्थिव जीवन का औचित्य यही है कि मनुष्य पृथ्वी पर भगवान् को उपलब्ध करने के लिए है।

इस हेतु के बिना पार्थिव जीवन एक प्रकार का आसुरिक जीवन हो जायेगा।

(मौन)

यदि भगवान् को पुनः खोज लेने और भगवान् ही बन जाने का, उन्हें अभिव्यक्त करने का, उन्हें बाह्य रूप में उपलब्ध करने का यह सर्वोच्च हेतु न होता तो पार्थिव जीवन, जैसा कि यह है, एक राक्षसी जीवन के समान ही होता।

स्वाभाविक है कि लोग जितने ही अधिक अचेतन होते हैं, उतना ही कम इस बात को समझते हैं, क्योंकि वे अवलोकन नहीं करते, वे अपनी पुरानी आदतों के अनुसार यन्त्रवत् जीवन बिताते हैं, अपनी जीवन-विधि के विषय में न तो वे सचेतन होते हैं और न इसका अवलोकन ही करते हैं। परन्तु जैसे-जैसे चेतना बढ़ती जाती है, मनुष्य अनुभव करता है कि किस प्रकार का भयावह नरक है यह जीवन—जीवन, जैसा कि यह है।

और जब मनुष्य **उस** वस्तु के विषय में सचेतन होता है **जिसकी ओर** यह जीवन ले जा रहा है, केवल तभी हम इसे स्वीकार कर सकते और समझ सकते हैं। जीवन का केवल यही हेतु इसे स्वीकार करने-योग्य बनाता है।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ८, पृ. १४४-४५

जब व्यक्ति आमोद-प्रमोद में भूला रहता है, जब वह वस्तुओं को उसी रूप में लेता है जिस रूप में वे आती हैं और गम्भीर होकर जीवन पर सीधी दृष्टि डालने से बचना चाहता है, एक शब्द में, जब वह भूल जाना चाहता है, यह भूल जाना चाहता है कि कोई समस्या है जिसका समाधान करना है, कोई चीज़ है जिसे पाना है और यह कि हमारे अस्तित्व और जीवन का कोई हेतु है, हम यहाँ केवल समय बिताने और बिना कुछ सीखे या किये यहाँ से चले जाने के लिए नहीं आये हैं तो सचमुच वह अपना समय बरबाद करता है। और एक ऐसे सुयोग को खो बैठता है—इस सुयोग को मैं अद्वितीय तो नहीं, पर अद्‌भुत कह सकती हूँ—जो उसे एक ऐसे अस्तित्व के लिए मिला है जो प्रगति का स्थान है, जो अनन्तता में एक ऐसे क्षण के समान है जब तुम जीवन के रहस्य की खोज कर सकते हो। यह स्थूल पार्थिव अस्तित्व एक अद्‌भुत सुयोग है, एक सम्भावना है जो तुम्हें जीवन के प्रयोजन का पता लगाने, इस गभीरतर सत्य की ओर एक पग आगे बढ़ने के लिए दी गयी है। इसलिए दी गयी है कि तुम उस रहस्य को खोज सको जो तुम्हें दिव्य जीवन के शाश्वत आनन्दोल्लास के सम्पर्क में ला देता है।

(मौन)

मैं तुमसे पहले भी बहुत बार कह चुकी हूँ कि दुःख-कष्ट की चाह करना एक अस्वस्थ मनोवृत्ति है, इससे अवश्य बचना चाहिये, पर भुलक्कड़पन के द्वारा, उथली, हलकी क्रियाओं और मनोविनोद द्वारा, उससे भागना कायरता है। जब कोई दुःख आता है तो हमें कुछ सिखाने के लिए आता है। जितनी जल्दी हम उसे सीख लेंगे उतनी ही जल्दी उसकी आवश्यकता कम हो जायेगी। और जब हम रहस्य को जान जाते हैं तब फिर दुःखी होना सम्भव ही नहीं रहता, क्योंकि वह रहस्य हमें दुःख का हेतु, प्रयोजन, मूल और उससे बाहर निकलने का रास्ता दिखा देता है।

वह रहस्य है अहं से छुटकारा पा लेना, उसकी क़ैद से निकल आना, अपने-आपको भगवान् के साथ एक कर देना, उनमें मिला देना, किसी भी चीज़ को उनसे हमें अलग न करने देना। जब व्यक्ति एक बार इस रहस्य को खोज लेता है और इसे अपनी सत्ता में चरितार्थ कर लेता है तो पीड़ा के अस्तित्व का कोई हेतु नहीं रह जाता और दुःख ग़ायब हो जाता है। यह

सत्ता के गहरे भागों में, आत्मा में, आध्यात्मिक चेतना में ही नहीं बल्कि जीवन और शरीर में भी (दुःख से छुटकारा पाने का) सबसे प्रबल उपाय है।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ९, पृ. ४७-४८

श्रीअरविन्द ने यहाँ यह सब जो कहा है उसका उद्देश्य है, मानव प्रकृति के तमस् के, उसकी जड़ता, आलस्य, सहज-सन्तुष्टि और परिश्रम न करने की प्रवृत्ति के विरुद्ध लड़ना। जीवन में कितनी ही बार हमें ऐसे लोग मिलते हैं जो शान्तिप्रिय इसलिए होते हैं कि वे लड़ाई से डरते हैं, जो संग्राम जीतने से पहले ही आराम के लिए लालायित होते हैं, जो अपनी ज़रा-सी प्रगति से सन्तुष्ट हो जाते हैं और अपनी कल्पना तथा कामनाओं में उसे ऐसी अद्‌भुत प्राप्ति समझ लेते हैं जो उनके आधे रास्ते में रुक जाने को न्यायसंगत ठहराती है।

सामान्य जीवन में, निःसन्देह, ऐसा बहुत होता है। वस्तुतः यह मध्यवर्गीय आदर्श है और इसने मानवजाति को एक तरह से मुरदा बना दिया है और मनुष्य को वैसा बना डाला है जैसा वह आज है : "जब तक युवा हो काम करो, धन, सम्मान, पद का अर्जन करो, मितव्ययी बनो, थोड़ी दूर-दृष्टि रखो, कुछ बचाओ और एक पूँजी जमा कर लो, पदाधिकारी बनो, ताकि जब तुम चालीस के होओ तो "आराम कर सको", और अपनी आमदनी, और बाद में पेन्शन का उपभोग कर सको।"—बैठ जाना, रास्ते में रुक जाना, आगे न बढ़ना, सो जाना, समय से पहले क़ब्र की ओर चल देना, जीवन के उद्देश्य और प्रयोजन को जीना ही बन्द कर देना—बैठ जाना!

जिस क्षण मनुष्य आगे बढ़ना बन्द कर देता है, वह पीछे गिर जाता है। जिस क्षण वह सन्तुष्ट होकर बैठ जाता है तथा और आगे अभीप्सा नहीं करता वह मरना शुरू कर देता है। जीवन है गति, जीवन है प्रयास, जीवन है आगे की ओर बढ़ना, एक पहाड़ी चढ़ाई चढ़ना, नये-नये ज्योति-शिखरों को पार करना और भावी चरितार्थताओं की ओर अग्रसर होना। विश्राम करने की इच्छा से बढ़ कर ख़तरनाक कोई वस्तु नहीं है। हमें विश्राम की खोज करनी चाहिये कर्म में, प्रयास में, आगे की ओर बढ़ने में—उस सच्चे विश्राम की जो भागवत 'कृपा' में पूर्ण भरोसा रखने से, इच्छाओं के अभाव से, अहं पर विजय प्राप्त करने से मिलता है।

सच्चा विश्राम चेतना को विस्तृत करने से, विश्वभावापन्न बनाने से मिलता है। संसार जितने विशाल बन जाओ और तुम सदा आराम में रहोगे। घोर कर्म करते हुए, रणस्थली के बीचोबीच, प्रयास में तत्पर तुम अनन्तता और शाश्वतता की विश्रान्ति को अनुभव करोगे।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ९, पृ. ७३

माँ, वस्तुतः बाह्य रूप-रंग के प्रति योगी का क्या मनोभाव होता है?

अन्धा होने की जगह स्पष्ट देखने की उपयोगिता।

बाहरी रूप-रंग से भविष्य में धोखा न खाने की उपयोगिता।

अज्ञान और मिथ्यात्व में जीते रहने की जगह जीवन के सच्चे प्रयोजन को जानने की उपयोगिता।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड १६, पृ. ४४१

यदि प्रगति की प्यास, ज्ञान की प्यास, अपने-आपको रूपान्तरित करने की प्यास और इन सबसे बढ़ कर दिव्य 'प्रेम' और 'सत्य' की प्यास हो —अगर तुममें यह प्यास हो तो गति तेज़ होगी। सचमुच प्यास हो, एक आवश्यकता हो, आवश्यकता।...

बस, और बन्धन नहीं—स्वाधीन, स्वाधीन। हर समय केवल एक चीज़ को छोड़ कर सब कुछ बदलने के लिए तैयार रहना : वह चीज़ है अभीप्सा, यह प्यास।

... तुम्हें उस "कुछ चीज़" की ज़रूरत है, तुम्हें 'प्रकाश' की ज़रूरत है, तुम्हें 'प्रेम' की ज़रूरत है, तुम्हें 'सत्य' की ज़रूरत है, तुम्हें चरम 'पूर्णता' की ज़रूरत है—और बस इतना ही। और सूत्र... सूत्र जितने कम हों उतना अच्छा। लेकिन वह चीज़, वह आवश्यकता, जिसे **वह** 'वस्तु-विशेष' ही पूरा कर सकती है—उसके सिवा और कुछ नहीं, कोई अधकचरा उपाय नहीं, केवल वही। और फिर, तुम चल पड़ो!... तुम्हारा मार्ग तुम्हारा मार्ग होगा, मार्ग का अपने-आपमें कोई महत्त्व नहीं है—वह कोई भी क्यों न हो, ... कोई भी; इसका कोई महत्त्व नहीं।...

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ११, पृ. ६-७

सामञ्जस्यपूर्ण सामूहिकता की ओर

एक समय था, बहुत पहले की बात नहीं, जब मनुष्य की आध्यात्मिक अभीप्सा दुनिया की सब चीज़ों से निर्लिप्त, जीवन से पलायन या ठीक-ठीक कहें तो युद्ध से कतराने के लिए, संघर्ष से ऊपर उठने के लिए, सारे प्रयास से बचने के लिए एक नीरव, निष्क्रिय शान्ति की ओर मुड़ी हुई थी। यह एक आध्यात्मिक शान्ति थी जिसमें सब तनाव, संघर्ष और प्रयासों की समाप्ति के साथ-साथ सब तरह के दुःख-कष्ट भी समाप्त हो जाते थे और आध्यात्मिक एवं दिव्य जीवन के लिए इसे ही सच्ची और एकमात्र पहचान माना जाता था। इसे ही भागवत कृपा, भागवत सहायता, भागवत हस्तक्षेप समझा जाता था। और अब भी वेदना, तनाव, अति-तनाव के इस युग में भी, सब सहायताओं में यह परम शान्ति ही सबसे अच्छी तरह ग्रहण की जाती है और स्वागत-सत्कार पाती है। यही वह सुख है जिसकी माँग की जाती है, जिसकी आशा की जाती है, अभी तक अनेकों के लिए यही भागवत हस्तक्षेप और भागवत कृपा का सच्चा संकेत है।

वास्तव में, व्यक्ति चाहे कुछ भी पाना चाहे, उसे आरम्भ इस पूर्ण और निर्विकार शान्ति की स्थापना से ही करना चाहिये; यही वह आधार है जिस पर से मनुष्य को काम करना है; लेकिन यदि कोई ऐकान्तिक, निजी, अहंजन्य मुक्ति के ही सपने न लेता हो तो वह इसी से सन्तुष्ट नहीं हो सकता। भागवत कृपा का एक दूसरा पहलू भी है—प्रगति का पहलू, जो सब बाधाओं पर विजयी होगा, वह पहलू जो मानवजाति को नयी उपलब्धि की ओर आगे बढ़ायेगा, एक नयी दुनिया के द्वार खोल देगा और केवल इने-गिने लोगों के लिए ही इस दिव्य उपलब्धि से लाभ उठाना सम्भव न बनायेगा, बल्कि उनके प्रभाव, दृष्टान्त और बल द्वारा शेष मानवजाति के लिए भी नयी और अधिक अच्छी अवस्थाएँ सम्भव बना देगा।

यह (प्रगति की सम्भावना) भविष्य में उपलब्धि के मार्ग को, उन सम्भावनाओं को, जो पहले देखी जा चुकी हैं, खोल देती है, जब मानवजाति का एक पूरा भाग, वह समूचा भाग जो नयी शक्तियों की ओर सचेतन या अचेतन रूप से खुल गया है, एक उच्चतर, अधिक सामञ्जस्यमय, पूर्णतर जीवन की ओर उठाया जायेगा...। यदि व्यक्तिगत रूपान्तर सदा अनुज्ञेय या सम्भव न हो, फिर भी समूह का एक तरह का उन्नयन, सच्चा सामञ्जस्य

होगा जो नयी व्यवस्था और नये सामञ्जस्य की स्थापना को सम्भव बना देगा, और वर्तमान अव्यवस्था की यातनाओं और संघर्षों को दूर करके उनकी जगह समष्टि के सामञ्जस्यमय कार्य के लिए व्यवस्था ला देगा।

जीवन में मन के हस्तक्षेप से जो विकार, कुरूपता, और विकृतियों की राशि जमा हो गयी है, जिन्होंने दुःख-कष्ट, नैतिक दारिद्र्य एवं कुत्सित और घृणित दुःखों के पूरे प्रदेश को बढ़ा दिया है, जिसने मनुष्य-जीवन के एक पूरे भाग को ऐसा भयावह बना दिया है, उस सबको अन्य विपरीत साधनों द्वारा दूर करने के लिए अन्य परिणाम प्रवृत्त होंगे। सचमुच, उसे दूर होना ही चाहिये। यही वह चीज़ है जो कई बातों में मानवजाति को पशु-जीवन की सरलता और सब कुछ के बावजूद नैसर्गिक सहजता और सामञ्जस्य की तुलना में अनन्तगुना बदतर बनाती है। पशुओं का दुःख-कष्ट कभी भी इतना दयनीय व कुत्सित नहीं होता है जितना कि मानवजाति के एक पूरे भाग का, जो एकमात्र अहंमूलक आवश्यकताओं के काम में लगी मनोवृत्ति द्वारा विकृत हो गयी है।

हमें या तो ऊपर उठना होगा, 'ज्योति' और 'सामञ्जस्य' में छलाँग लगानी होगी, या फिर स्वस्थ और अविकृत पशु-जीवन की सरलता में वापिस जा गिरना होगा।...

लेकिन जो ऊपर नहीं उठाये जा सकते, जो प्रगति करने से इन्कार करते हैं, वे अपने-आप ही मानसिक चेतना के उपयोग को खो बैठेंगे और फिर से मानव से निम्नतर स्तर पर उतर आयेंगे।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ९, पृ. ३२७-२९

सम्बन्धों का गभीर अर्थ

इन सम्बन्धों को हम अपनी चेतना की क्रिया के चार प्रधान प्रकार के अनुसार चार श्रेणियों में बाँट सकते हैं: भौतिक, प्राणिक, आन्तरात्मिक और मानसिक। और ये सम्बन्ध अपनी व्यक्त क्रियावली के गुण और प्रकार के अनुसार इन श्रेणियों में से किसी एक में अथवा एक से अधिक में एक साथ या बारी-बारी से आ सकते हैं।

भौतिक सम्बन्ध तो एक तरह से अनिवार्य है, क्योंकि हम भौतिक शरीरधारी हैं। यह सम्बन्ध स्वभावतः उनके साथ होता है जिन्होंने हमें यह

शरीर प्रदान किया है, साथ ही उन सबके साथ भी जो उन पर भौतिक आवश्यकताओं के लिए निर्भर करते हैं। ये रिश्तेदारी के सम्बन्ध हैं। कुछ सम्बन्ध पड़ोसी होने के नाते बनते हैं, उदाहरणार्थ, मकान का पड़ोस, नाना सवारियों में पड़ोस, सड़कों पर मिलन। (यहाँ एक बात कह दूँ—और यह बात अन्य तीनों श्रेणियों के सम्बन्ध में भी लागू होती है—वह यह कि यह ज़रूरी नहीं है कि ऐसा सम्बन्ध केवल भौतिक ही होता हो; वास्तव में ऐसा तो शायद ही कभी होता हो, क्योंकि हम विरले ही अपनी सत्ता के किसी एक ही स्तर पर क्रियाशील रहते हैं। मेरे कहने का अभिप्राय यह है कि इन सम्बन्धों में भौतिक तत्त्व अन्य तीनों से प्रबल रहता है।)

प्राणिक सम्बन्ध होता है उन आवेगों और इच्छाओं का सम्बन्ध जो दोनों में एक समान होते हैं या जो आपस में मिल कर एक-दूसरे के पूरक और वर्धनशील होते हैं।

आन्तरात्मिक सम्बन्ध वह सम्बन्ध है जो आध्यात्मिक अभीप्साओं के मेल से बनता है।

मानसिक सम्बन्ध होता है विचारों और रुचियों में सादृश्य होने से या उनके आपस में एक-दूसरे के पूरक होने से।

सामान्यतः, जब तक इनमें से किसी एक श्रेणी की प्रधानता बाक़ी तीनों पर स्पष्ट रूप से स्थापित न हो गयी हो—और यह प्रधानता तभी हो सकती है जब सत्ता की गहराई और जटिलता में सुव्यवस्थित विन्यास हो जाये—तब तक जो लोग भौतिक कारणों से हमारे समीप हैं हम उन्हें भौतिक रूप में सहायता दे सकते हैं, और देनी भी चाहिये।

अपवादों को छोड़ कर, अपने कुटुम्बी-जनों के लिए तथा उनके लिए जिनसे हम गाड़ी, जहाज़ या ट्राम आदि में मिलते हैं, यह भौतिक सहायता ही सर्वोत्तम सहायता होती है और इसका रूप होता है आर्थिक सहायता, बीमारी या संकट के समय सहायता।

जो लोग कलात्मक या अन्य रुचियों के सादृश्य के कारण हमारी ओर आकर्षित हुए हैं हमें उनकी संवेदनशील सत्ता की सहायता करनी चाहिये। यह हम उनकी संवेदक-शक्तियों को उचित, सन्तुलित करके या उसको सम्यक् दिशा दिखा कर कर सकते हैं।

जिनके साथ हमारा सम्पर्क प्रगति की अभीप्सा के सादृश्य के कारण

हुआ है उनकी सहायता हम अपने उदाहरण द्वारा उन्हें मार्ग दिखा कर, अपने प्रेम के द्वारा उनके मार्ग की कठोरता को कम करके कर सकते हैं।

अन्त में, जो लोग हमारे निकट मानसिक आकर्षणों को लेकर आते हैं उनके प्रति हमारा कर्तव्य यह है कि हम उनकी बुद्धि के प्रकाश को तेज़ करें, यदि सम्भव हो तो उनके विचार-क्षेत्र को विस्तृत और आदर्श को आलोकित करें।

ये नाना स्तरों के आकर्षण हमारी भेंट के समय भिन्नताओं, प्रायः सूक्ष्म भिन्नताओं द्वारा प्रकट होते हैं। दूसरी ओर, हमारी निरीक्षण की कुशाग्रता कभी-कदास ही पूरी सजग रहती है, फलस्वरूप ये भिन्नताएँ प्रायः हमारी दृष्टि से बच निकलती हैं।

किन्तु अपनी कार्य-धारा को ठीक रखने के लिए और अपने साथियों के प्रति अपने मनोभाव में त्रुटियाँ लाने वाले कारणों को यथासम्भव कम-से-कम करने के लिए हमें हमेशा बड़े ध्यान से उन असंख्य कारणों को देखना होगा जिनसे हम एक-दूसरे के समीप आते हैं, सादृश्य और मेल की उन श्रेणियों को देखना होगा जो हमें उनके साथ बाँधती हैं।

कुछ विरले ऐसे होते हैं जो एक साथ सत्ता के इन चारों प्रकार के सम्बन्धों से हमारे निकट हों। मित्रता के गहनतम अर्थ में ऐसे लोग ही हमारे मित्र हैं। इन्हीं के लिए हम अत्यधिक समग्र और पूर्ण रूप से उपयोगी और कल्याणकारी कार्य कर सकते हैं।

हमें यह कभी नहीं भूलना चाहिये कि दो मानव जीवनों का सम्पर्क कितना स्थायी होगा यह इस बात पर निर्भर करता है कि उनको जोड़ने वाले आकर्षण सत्ता के कितने स्तरों पर हैं और उन स्तरों पर कितनी गहराई तक क्रियाशील हैं।

केवल वे ही आपस में सदा के लिए संयुक्त हो सकते हैं जो अपने तथा समस्त वस्तुओं के शाश्वत तत्त्व में मिलते हैं, सायुज्य स्थापित करते हैं।

चिर मित्र वे ही हैं जो सदा मित्र रहते हैं, चाहे दूर हों, चाहे पास, चाहे इस जगत् में, चाहे अन्य जगतों में।

और ऐसे मित्रों के साथ हमारा मिलना किसी ऐसे पूर्व-मिलन पर निर्भर है जो हमारी सत्ता की अजानी गहराई में हुआ होगा।

इसके अतिरिक्त, जब कभी ऐसा मिलन होता है तो हमारा समस्त

मनोभाव बदल जाता है।

जब हम अन्तःस्थित भगवान् के साथ एक हो जाते हैं तो सभी चीज़ों के साथ उनकी गहराई में एक हो जाते हैं। वास्तव में, सबके साथ हमारा सम्बन्ध भगवान् में और भगवान् के द्वारा ही होना चाहिये। तब, न आकर्षण रहता है, न विकर्षण, न अनुराग, न विराग। जो भगवान् के निकट है, उसके हम निकट होते हैं, और जो उनसे दूर है, उससे दूर।

निष्कर्ष यह निकलता है कि हमें दूसरों के बीच, सदा और अधिकाधिक रूप में सर्वांगीण, बौद्धिक और आध्यात्मिक क्रिया-कलाप का ऐसा दिव्य दृष्टान्त बनना चाहिये जो उन्हें दिव्य जीवन के मार्ग को समझने और उस पर चलने का एक अच्छा सुयोग दे।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड २, पृ. ८०-८३

हम कह सकते हैं कि मनुष्य अपनी प्रकृति की सत्ता की सभी अवस्थाओं का सर्वशक्तिमान् स्वामी है, लेकिन वह यह होना भूल गया है।

सर्वशक्तिमान् होना उसकी स्वाभाविक स्थिति है—लेकिन वह सर्वशक्तिमान् होना भूल गया है।...

स्वाभाविक है कि विकास-चक्र के लिए यह ज़रूरी था कि मनुष्य अपनी सर्वशक्तिमत्ता को भूल जाये, क्योंकि इसके कारण वह गर्व और मिथ्याभिमान से फूल उठा था और इस तरह पूर्णतया विकृत हो गया था। यह ज़रूरी था कि उसे यह अनुभव कराया जाये कि बहुत-सी चीज़ें उससे ज़्यादा बलवान्, उससे ज़्यादा शक्तिशाली हैं। लेकिन यह तत्त्वतः सत्य नहीं है। यह विकास-क्रम की एक आवश्यकता है। बस।

मनुष्य अपनी सम्भाव्यता में देवता है। उसने अपने-आपको वास्तविक देव मान लिया। उसे यह सीखने की ज़रूरत थी कि वह धरती पर रेंगते हुए एक बेचारे कीड़े से बढ़ कर कुछ नहीं है। इसलिए जीवन उसे घिसता, घिसता गया, हर प्रकार से घिसता गया जब तक कि वह... समझा तो नहीं, पर कम-से-कम इस बात को उसने थोड़ा अनुभव तो कर लिया। लेकिन जैसे ही वह ठीक वृत्ति अपनाता है, वह जान लेता है कि सम्भाव्यता में वह देवता है। केवल उसे देवता बनना है, यानी, जो कुछ दैवी नहीं है उस पर उसे विजय पानी है।

देवों के साथ यह सम्बन्ध बड़ा ही मज़ेदार है...। जब तक मनुष्य इन दैवी सत्ताओं के आगे उनकी शक्ति, सौन्दर्य, उपलब्धियों के लिए अहोभाव के साथ चौंधियाया हुआ खड़ा रहता है तब तक वह उनका दास रहता है। लेकिन जब वह इन्हें परम पुरुष की भिन्न प्रकार की सत्ताएँ—इससे बढ़ कर कुछ नहीं—मान लेता है और अपने-आपको भी परम पुरुष की एक और प्रकार की सत्ता मानता है और यह जान लेता है कि मुझे भी वही बनना है तो सम्बन्ध बदल जाता है। उसके बाद वह देवों का दास नहीं रहता—वह उनका दास **नहीं** है।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ११, पृ. ३९-४०

सच्ची आवश्यकता

यदि तुम भगवान् की ओर मुड़ो और 'उन पर' पूरा भरोसा रखो और 'उनसे' माँगो तो तुम उस चीज़ को पा लोगे जिसकी तुम्हें आवश्यकता है—आवश्यक रूप में वही चीज़ नहीं जिसकी तुम कल्पना करते हो कि तुम्हें उसकी ज़रूरत है; परन्तु यथार्थ में जिस वस्तु की तुम्हें आवश्यकता है उसे तुम पा जाओगे। परन्तु तुम्हें 'उनसे' माँगना होगा।

तुम्हें सच्चाई के साथ यह परीक्षण करने की कोशिश करनी चाहिये। तुम सभी प्रकार के बाहरी उपायों के द्वारा उसे प्राप्त करने का प्रयास करो और फिर यह आशा करो कि भगवान् तुम्हें दे दें, यहाँ तक कि 'उनसे' माँगे बिना ही दे दें, ऐसा नहीं होता, निस्सन्देह, जब तुम चाहते हो कि कोई व्यक्ति तुम्हें कोई चीज़ दे तो तुम उससे वह चीज़ माँगते हो, माँगते हो न? तब तुम यह आशा क्यों करते हो कि भगवान् तुम्हारे माँगे बिना ही तुम्हें दे दें?

साधारण मानव-चेतना में यह क्रिया ठीक इसके विपरीत होती है। मनुष्य किसी चीज़ की कल्पना करता है और कहता है: "मुझे इसकी आवश्यकता है, मुझे इस सम्बन्ध की आवश्यकता है, मुझे इस प्रकार का प्रेम चाहिये, मुझे यह ज्ञान चाहिये आदि-आदि। हाँ, भगवान् को यह चीज़ मुझे देनी चाहिये, अन्यथा वे भगवान् ही नहीं हैं।" कहने का मतलब, तुम समस्या को पूर्ण रूप से उलट देते हो।

सबसे पहले, तुम कहते हो: "मुझे आवश्यकता है।" क्या तुम जानते

हो कि उस चीज़ की तुम्हें सचमुच आवश्यकता है या वह केवल एक धारणा है जो तुमने बना ली है या वह एक कामना है या एकदम कोई अज्ञानपूर्ण क्रिया है? पहली बात: तुम इस विषय में कुछ भी नहीं जानते।

दूसरी बात: निश्चित रूप से, तुम अपनी निजी इच्छा भगवान् पर लादना चाहते हो जब तुम उनसे कहते हो: "मुझे इसकी आवश्यकता है।" और तब तुम उस चीज़ को उनसे माँगते भी नहीं कि "मुझे यह चीज़ दीजिये।" तुम कहते हो: "मुझे इसकी आवश्यकता है। अतः, जब मुझे इसकी ज़रूरत है, वह मेरे पास अवश्य आनी चाहिये, बिलकुल स्वाभाविक रूप में, अपने-आप ही; भगवान् का यह कर्तव्य है कि जिन-जिन चीज़ों की मुझे आवश्यकता हो उन्हें वे मुझे दें।"

परन्तु यदि ऐसा हो कि तुम सचमुच यह न जानो कि तुम्हारी आवश्यकता क्या है और वह केवल एक भ्रम हो और सत्य न हो और, इस व्यापार में, तुम उसे इर्द-गिर्द के प्रत्येक व्यक्ति से माँगो और भगवान् के पास न जाओ, अपने तथा उनके बीच कोई सम्बन्ध न उत्पन्न करो, उनकी बात न सोचो या अपने मनोभाव में कम-से-कम थोड़ी सच्चाई रख कर उनकी ओर न मुड़ो, तो, चूँकि तुम उनसे कुछ नहीं माँगते, उनके लिए ऐसा कोई कारण नहीं कि वे तुम्हें कोई चीज़ दें।

परन्तु तुम यदि उनसे माँगो तो, चूँकि 'वे' भगवान् हैं 'वे' तुमसे कुछ अधिक अच्छे रूप में जानते हैं कि तुम्हें क्या चाहिये; और 'वे' तुम्हें वह चीज़ देंगे जिसकी तुम्हें आवश्यकता है।

अथवा, हो सकता है; तुम आग्रह करो और अपनी निजी इच्छा 'उन' पर लादना चाहो तो यह सम्भव है कि 'वे' तुम्हें वह चीज़ दे भी दें जिसे तुम चाहते हो ताकि 'वे' तुम्हें अवगत करा दें और तुम्हारी भूल के विषय में तुम्हें सचेतन बना दें कि सचमुच वह चीज़ वह नहीं थी जिसकी तुम्हें आवश्यकता थी। और फिर तुम प्रतिवाद करना आरम्भ करते हो—मेरा मतलब यह नहीं है कि व्यक्तिगत रूप से तुम, मैं यहाँ सभी मनुष्यों की चर्चा कर रही हूँ—और कहते हो: "भगवान् ने मुझे ऐसी चीज़ क्यों दी है जो मुझे हानि पहुँचाती है?"—यह बात तो बिलकुल भूल ही जाते हो कि वास्तव में स्वयं तुमने ही वह चीज़ माँगी थी!

दोनों ही अवस्थाओं में तुम सर्वदा आपत्ति करते हो। यदि 'वे' तुम्हारी

माँगी वस्तु दे देते हैं और वह चीज़ तुम्हें लाभ की अपेक्षा कहीं अधिक हानि पहुँचाती है तो तुम आपत्ति करते हो। और फिर, यदि 'वे' उसे नहीं देते तो भी तुम आपत्ति करते हो : "कैसी बात है! मैंने 'उनसे' कहा कि मुझे इसकी ज़रूरत है और 'वे' मुझे वह चीज़ नहीं देते।"

दोनों ही अवस्थाओं में तुम शिकायत करते हो, और बेचारे भगवान् दोषी बनते हैं।

केवल, इन सब बातों के स्थान पर, यदि तुम्हारे अन्दर 'उस वस्तु' को पाने की महज़ एक अभीप्सा, उत्कण्ठा, तीव्र ज्वलन्त आवश्यकता का बोध हो जिसे तुम कम या अधिक स्पष्ट रूप में अपनी सत्ता का परम 'सत्य', सभी वस्तुओं का 'मूल स्रोत', सर्वोपरि 'शुभ', हम जो कुछ चाहते हैं उसका 'उत्तर', सभी समस्याओं का 'समाधान' समझते हो; यदि तुम्हारे अन्दर यह आतुर माँग है और तुम उसे उपलब्ध करने की अभीप्सा करते हो तो तुम फिर भगवान् से कभी यह नहीं कहोगे कि : "मुझे यह दो, मुझे वह दो," अथवा : "इसकी मुझे आवश्यकता है, मुझे वह मिलनी ही चाहिये।" तुम 'उनसे' कहोगे : "मेरे लिए वही करो जो आवश्यक है और मुझे मेरी सत्ता के परम 'सत्य' तक ले चलो। मुझे वही वस्तु दो जिसे 'तुम' अपने सर्वोच्च 'ज्ञान' के द्वारा मेरी आवश्यकता के रूप में देखते हो।"

और तब, उस हालत में, तुम निस्सन्दिग्ध हो सकते हो कि तुम ग़लत माँग नहीं करोगे और 'वे' तुम्हें ऐसी कोई वस्तु नहीं देंगे जो तुम्हें हानि पहुँचाये। फिर इससे भी उच्चतर एक दूसरा उपाय है, परन्तु उससे प्रारम्भ करना कुछ अधिक कठिन है।

परन्तु यह पहला उस मनोभाव की अपेक्षा कहीं अधिक उचित उपाय है जिसमें मनुष्य भगवान् से कहता है : "मुझे इसकी आवश्यकता है। मुझे यह चीज़ दो।" क्योंकि सचमुच, बहुत थोड़े-से लोग ही वास्तव में यह जानते हैं कि उन्हें किस चीज़ की आवश्यकता है—बहुत ही थोड़े। और इस बात का प्रमाण यह है कि वे सर्वदा अपनी कामनाओं को सन्तुष्ट करने में लगे रहते हैं, जी-जान से, पूरी तरह इसी प्रयास में लगे रहते हैं, और हर बार जब उनकी एक कामना पूरी हो जाती है तो उनका मोह भंग हो जाता है और वे दूसरी कामना की ओर बढ़ जाते हैं।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ८, पृ. १४७-५०

'पुरोधा' :

दैनन्दिनी

अक्तूबर

१. भगवान् सदा अपने साथ पूर्ण शान्ति और स्थिरता लाते हैं।
२. सत्य वृत्ति है विश्वास की वृत्ति, आज्ञाकारिता की वृत्ति, निवेदन की वृत्ति।
३. किसी भी व्यक्ति को अपने और भगवान् के बीच न आने दो।
४. शान्ति और स्थिरता बीमारी के सबसे बड़े उपचार हैं।
५. जब हम अपने कोषाणुओं में शान्ति ला सकें तो हम नीरोग हो जाते हैं।
६. अगर तुम भीतर से शान्ति को पुकारो तो वह आ जायेगी।
७. आशा कभी न छोड़ो—आशा एक दिव्य गुण है।
८. केवल अचञ्चलता में ही तुम जान सकते हो और कर्म कर सकते हो।
९. जो कुछ उत्तेजना और उग्रता में किया जाता है वह मूर्खता और मतिभ्रम होता है।
१०. शान्ति सत्ता के अन्दर भागवत उपस्थिति का पहला चिह्न है।
११. एकमात्र सच्चा समाधान है उच्चतर ज्योति के लिए अभीप्सा।
१२. पहली शर्त है आत्म-विस्मृति, पूर्ण आत्म-दान, अहंकार का अभाव।
१३. सभी परिस्थितियों में समचित्तता बनाये रखो और शाश्वत उपस्थित होंगे।
१४. नम्रता एक दिव्य गति है और खिन्नता अन्धकारमयी शक्तियों की विकृत अभिव्यक्ति है।
१५. मन की निश्चल-नीरवता का अभ्यास करो, यह समझने की शक्ति देती है।
१६. हम हमेशा उन चीज़ों से घिरे रहते हैं जिनके बारे में हम सोचते हैं।
१७. अपने काम पर एकाग्र होओ—इसी से तुम्हें बल मिलता है।
१८. भविष्य अनिवार्यतः भूतकाल से अधिक अच्छा है। हमें बस आगे बढ़े चलना है।
१९. वे सबसे अधिक सुखी हैं जो श्रद्धा पर ऐसे दृढ़ हैं मानों चट्टान पर खड़े हों।
२०. हे मेरे स्वामी! तेरी सहायता और कृपा के रहते डर की क्या बात है!

२१. भगवत्कृपा पर विश्वास रखने से सारी कठिनाइयाँ सुलझ जाती हैं।
२२. चढ़ाई धीमी है और काल लम्बा है। परन्तु सत्ता की वृद्धि अवश्य होगी और सामञ्जस्य बढ़ेगा।
२३. आराधना करो और जिसे आराधो वही बनने की कोशिश करो।
२४. हर एक में अपने दोष होते हैं और दूसरों के साथ व्यवहार करते समय उसे यह कभी न भूलना चाहिये।
२५. चालाक होने की अपेक्षा बिलकुल निष्कपट होना ज़्यादा अच्छा है।
२६. भगवान् पर सम्पूर्ण भरोसा करने में ही आनन्द है।
२७. सच्ची महानता, सच्ची श्रेष्ठता दयाभाव और सद्भाव में है।
२८. चूँकि दूसरे लोग कमीने हैं इसलिए यह कोई कारण नहीं है कि तुम भी कमीने बनो।
२९. सच्ची अभीप्सा ऐसी चीज़ है जो साहस से भरी रहती है।
३०. विजय उसी की होती है जो सतत प्रयत्नशील होता है।
३१. ऐसी कोई चीज़ नहीं जो तुम्हें कृतज्ञता से प्राप्त हर्ष के समान हर्ष प्रदान करे।

श्रीमाँ के साथ पत्र-व्यवहार

(श्रीअरविन्द अन्तर्राष्ट्रीय शिक्षा-केन्द्र की एक विद्यार्थिनी के नाम पत्र जिसने माताजी को सोलह वर्ष की उम्र में पत्र लिखना शुरू किया था।)

मधुर माँ,

'भागवत मुहूर्त' में श्रीअरविन्द कहते हैं, "ऐसे मुहूर्त आते हैं जब आत्मा मनुष्यों के बीच विचरण करती है और प्रभु का श्वास हमारी सत्ता के जलों पर फैला रहता है। और ऐसे मुहूर्त भी होते हैं जब वह पीछे हट जाती है और मनुष्यों को अपने ही अहं के बल या दुर्बलता के भरोसे काम करने के लिए छोड़ दिया जाता है।" और अपने एक पत्र में आपने कहा है कि हमें अपने अहं पर नहीं बल्कि चैत्य पर आश्रित रहना चाहिये। माँ, क्या आप मुझे यह समझा सकेंगी?

बात ऐसी है कि हम ऐसे काल में नहीं हैं जब मनुष्य अपने ही बल-बूते पर छोड़ दिये जायें। भगवान् ने अपनी चेतना को उन्हें प्रकाश देने के लिए नीचे भेजा है और जो भी उससे लाभ उठा सकते हैं उन्हें उससे लाभ उठाना चाहिये। आशीर्वाद। २९ दिसम्बर १९६९

मधुर माँ,

आपने कल जो कहा था उसके बारे में: क्या भगवान् ने अपनी चेतना नीचे ज़मीन पर नहीं भेजी थी? लेकिन सारी सृष्टि में भगवान् शुरू से थे, ठीक है न?

हाँ।

तो फिर आदिम मानव अपने ही साधनों पर क्यों छोड़ दिये गये?

आदिम मानव पशु के इतने अधिक निकट थे कि वे आन्तरिक भगवान् के साथ नाता जोड़ने के योग्य न थे। धीरे-धीरे, हज़ारों वर्षों के आरोहणकारी विकास द्वारा मनुष्यों ने सचेतन होना सीखा है। अब वे कहीं अधिक ऊँची ऐसी चेतना को प्रकट करने में समर्थ हैं जो पूरी तरह अतिमानव में कार्य करेगी; इसीलिए यह चेतना नीचे धरती पर उतरी है ताकि उन सबमें कार्य कर सके जो उसे ग्रहण करने के लिए तैयार हैं। आशीर्वाद।

३० दिसम्बर १९६९

मधुर माँ,

"जगत् एक महान् परिवर्तन के लिए तैयारी कर रहा है। क्या तुम सहायता करोगे?"(माताजी का १९७० का नये साल का सन्देश।)

यह महान् परिवर्तन क्या है जिसकी आप बात कर रही हैं और हम उसमें कैसे सहायता कर सकते हैं?

यह महान् परिवर्तन है धरती पर एक ऐसी नयी जाति की अभिव्यक्ति, जो मनुष्य की तुलना में ऐसी ही होगी जैसा मनुष्य पशु की तुलना में है। इस नयी जाति की चेतना धरती पर कार्यरत हो चुकी है—उन सबको प्रकाश

देने के लिए जो उसे ग्रहण करने और उसकी ओर ध्यान देने-योग्य हैं।

२ जनवरी १९७०

मधुर माँ,

मृत्यु के समाचार को कैसे लिया जाये, विशेषकर जब मृत व्यक्ति हमारा निकटस्थ हो?

परम प्रभु से कहो, "तेरी इच्छा पूर्ण हो" और जितना हो सके उतने शान्त रहो।

अगर बिछुड़ा हुआ व्यक्ति तुम्हें प्रिय हो तो तुम्हें उस पर अपने प्रेम को शान्ति और स्थिरता में एकाग्र करना चाहिये क्योंकि यही चीज़ गये हुए व्यक्ति को सबसे अधिक सहायता दे सकती है। आशीर्वाद।

१६ जनवरी १९७०

मधुर माँ,

हमें फ़िल्में कैसे देखनी चाहियें? अगर हम पात्रों के साथ एकात्म हो जायें तो अगर फ़िल्म दुःखभरी है या सनसनीखेज़ है तो हम उसमें इतने डूब जाते हैं कि हम रोने लगते हैं या डर जाते हैं। और अगर हम उससे अछूते रहें तो हम उसे पूरी तरह सराह नहीं सकते। तो हमें क्या करना चाहिये?

प्राण ही उससे विचलित और विगलित होता है।

अगर तुम मानसिक रूप से देखो तो वही रस नहीं आता; विचलित हुए या दुःख पाये बिना तुम शान्त भाव से फ़िल्म के मूल्य को परख सकते हो, देख सकते हो कि क्या फ़िल्म अच्छी बनी है, उसमें अभिनय अच्छा है या उसके दृश्यों में कलात्मक मूल्य है।

पहली स्थिति में तुम "अच्छे दर्शक" होते हो, दूसरी हालत में तुम अधिक शान्त रहते हो। आशीर्वाद।

३० जनवरी १९७०

सामञ्जस्य की लहर जुड़ गयी

सरल, सुन्दर, छोटी-सी कहानी प्रस्तुत है—आँधी आयी और अपने साथ महाविनाश को ले आयी, भयभीत नगरवासियों का दिल दहला गयी। अपने-आपको जगत् में सर्वश्रेष्ठ मानने वाला मानव प्रकृति की तनी हुई भृकुटि के सामने सहम कर अपने घर में मूषक की भाँति दुबक कर बैठ गया। शक्तिशाली मानव की यह दुरवस्था देख आँधी अपने विनाश-कर्म पर फूली न समायी, मन-ही-मन सोचने लगी—"अरे! दुनिया में अपने-आपको सबसे शक्तिशाली मानने वाला मनुष्य आज मेरी शक्ति के सामने असहाय बन गया। अब मैं ही इस धरती पर सर्वश्रेष्ठ हूँ। चारों तरफ़ मेरी प्रचण्डता की धाक जम गयी है। अरे, वह दिन सम्भवतः दूर नहीं जब देवताओं में मेरी गणना इन्द्र के समकक्ष होने लगे।" अपने ही गुणगान गाती हुई उस आँधी ने बवण्डर का ऐसा रूप ले लिया कि सभी प्राणी त्राहि-त्राहि कर उठे।

कुछ ही समय पहले जिस स्थान की तुलना नन्दन-कानन से की जा सकती थी, आँधी के लगातार थपेड़ों से धूलि-धूसरित हो क्षण भर में वह अपना सारा सौन्दर्य खो बैठा, जहाँ मन्द समीर के झोंके विभिन्न पुष्पों को दुलार रहे थे, अब वे सदा के लिए धरती की गोद में समा गये थे। पल भर में दृश्य एकदम बदल गया। जहाँ जीवन धड़क रहा था वहाँ अचानक मृत्यु ने डेरा डाल दिया। फूत्कार करती हुई आँधी सब कुछ नष्ट-भ्रष्ट करती आगे ही आगे बढ़ती जा रही थी कि अचानक पीछे से उसे मन्द पवन के झोंके का-सा स्पर्श प्राप्त हुआ, पलट कर जो देखा तो पाया कि सचमुच ठण्डी हवा का एक झोंका धरती पर बिछ गयी क्यारियों के बीच दुबक कर जा बैठा था। अपनी शक्ति पर फिर से गर्व किया आँधी ने, "वाह! मेरे सामने सभी सहम कर छिपे जा रहे हैं।" फिर बोली, "अरे समीर, छिप क्यों रहा है? तू तो मेरी ही जाति का है, फ़र्क बस इतना है कि तू शक्तिहीन है और मैं शक्तिशाली। क्या मेरे जैसी सामर्थ्य और शक्ति पाना चाहता है तू? मेरे साथ विनाश-कर्म में लग जा और मुझ जैसा बन जायेगा।"

समीर आँखें नीची किये मुस्कुरा भर दिया।

उसे चुप्पी साधे देख आँधी उसी जोश के साथ फिर से बोल उठी, "बोलता क्यों नहीं? क्या मेरे बली होने का तुझे विश्वास नहीं? अरे, जैसे

ही मेरे आने के आभास की तरंगें धरती पर फैलने लगती हैं कि चराचर व्याकुल और अस्थिर हो उठते हैं। देख नहीं रहा, मेरी शक्ति के सामने कोई नहीं ठहर पा रहा, सब मुझसे बचने के लिए इधर-उधर आश्रय ढूँढ़ रहे हैं, पशु-पक्षी भी भयभीत अपने घोंसलों, बिलों और माँदों की शरण ले रहे हैं। स्थल तो क्या, अपने-आपको जल के स्वामी मानने वाले बड़े-बड़े जहाज़ भी मेरी महानता के सामने तिनके की भाँति इधर-उधर डोलने लगते हैं, और समुद्र की लहरों के साथ तो मैं ऐसे-ऐसे खेल रचाती हूँ कि कभी तो उन्हें पहाड़ की ऊँचाई तक ले जाकर नीचे पटक देती हूँ और कभी उन्हें बवण्डरों में उलझा कर रख देती हूँ। अरे, देख नहीं रहा, धरती-आकाश सब मेरे आगे नतमस्तक खड़े हैं, जहाँ से गुज़र जाती हूँ बड़े-बड़े पेड़ धराशायी हो मुझे शत-शत प्रणाम करते हैं, और छोटे पौधों की तो बात ही क्या, उनका तो नामोनिशान तक मिटा देती हूँ। बोल, क्या अब भी मेरे जैसी शक्ति और बल का भागीदार नहीं बनना चाहता? समान जाति का होने के कारण तू जल्दी ही विनाश-लीला सीख जायेगा, तू कहे तो पल भर में फूँक मार कर तेरे अन्दर वह अदम्य शक्ति और ऊर्जा सञ्चारित कर दूँ कि मन्द समीर जैसे तुच्छ और अकिञ्चन नाम से जाना जाने वाला तू प्रचण्ड प्रभञ्जन का विशेष नाम पा ले!"

समीर सहमा-सा चुपचाप क्यारियों में दुबका रहा।

आँधी उसकी मूढ़ता पर हँस कर बोल उठी, "अरे मूर्ख! तेरे सामने देवता के समान मैं वरदान देने खड़ी हूँ और तू उसे ठुकरा रहा है। सचमुच, प्रकृति से दुर्बल जीव में भगवान् भी शक्ति का बीज नहीं बो सकते। जा, अपनी दुर्बलता के ही कीचड़ में फँसा रह कर मेरी शक्ति और विनाश का नृत्य देख।" इतना कह कर आँधी धूल उड़ाती हुई अपने रास्ते हो ली।

समीर ने ईश्वर को कोटि-कोटि धन्यवाद दिया। आँधी के हट जाने से क्षण भर में वातावरण फिर सुरभित हो उठा। मन्द पवन के बहते ही चराचर भयमुक्त हो गये। नदियों ने फिर से अपना कलकल नाद आरम्भ कर दिया और समुद्र ने भी अपनी गम्भीरता शीघ्र ही पा ली, उसकी लहरें तट के साथ प्रेमालाप में निमग्न हो गयीं।

आँधी आगे तो बढ़ गयी थी, लेकिन समीर की मन्द मुस्कान और चुप्पी ने उसके हृदय में सन्देह का बीज बो दिया था। एक ही बात उसे

रह-रह कर खटक रही थी कि समीर कमज़ोर क्यों बना रहना चाहता है, मेरे जैसी शक्ति क्यों नहीं पाना चाहता? दूर खड़े होकर उसने एक दृष्टि मन्द समीर के प्रदेश में डाली और आश्चर्यचकित रह गयी—वहाँ क्षण भर में सामञ्जस्य का सुन्दर वातावरण छा गया था। कोयल कूकने लगी थीं, भौंरे गुनगुन कर फूलों में नयी जान भर रहे थे, चारों तरफ प्रसन्नता की लहर दौड़ गयी थी। विनाश की कालिमा चीर कर समीर जीवन का सूर्य चमका कर आगे बढ़ गया था!

लज्जा से अभिभूत आँधी पानी-पानी हो गयी। आज उसने निर्माण और विनाश के भेद को गहरे पहचान लिया था।

परिणाम-स्वरूप पृथ्वी पर सामञ्जस्य की एक और लहर दौड़ गयी, अर्थात्, मन्द समीर का एक नया झोंका जुड़ गया।

—वन्दना

अग्निशिखा

श्रीअरविन्द सोसायटी की मासिक पत्रिका

वार्षिक शुल्क : एक वर्ष—१८० रु.; तीन वर्ष—५२० रु.; पाँच वर्ष—८६० रु.

अधिष्ठाता : श्रीअरविन्द सोसायटी

मुद्रक : स्वाधीन चैटर्जी, श्रीअरविन्द आश्रम प्रेस

प्रकाशक : प्रदीप नारंग, श्रीअरविन्द सोसायटी

प्रकाशन स्थल : सोसायटी हाउस, ११ सैंट मार्तैं स्ट्रीट, पुदुच्चेरी ६०५००१

मुद्रण-स्थल : श्रीअरविन्द आश्रम प्रेस, नं. ३८, गूबैर ऐवेन्यू,
पुदुच्चेरी ६०५००१, भारत

***सम्पादिका :* वन्दना**

Registered with the Registrar of Newspapers for India : No. 18135/70

दूरभाष संख्याएं (०४१३) २३३६३९६–९७–९८

Email: info@aurosociety.org

Website: www.aurosociety.org

उनकी कृपा का स्पर्श कठिनाई को सुयोग में, विफलता को सफलता में और दुर्बलता को अविचल बल में परिणत कर देता है। भगवती माँ की कृपा परमेश्वर की अनुमति है, आज हो या कल, उसका फल निश्चित है, पूर्वनिर्दिष्ट अवश्यंभावी और अनिवार्य है ।

— श्रीअरविन्द

अमरनाथ शिक्षण संस्थान, मथुरा (उ.प्र.)

फोन– 0565–3240006, 9358340375

Website : anvaschool.org, Email-amarnath.mtr1@rediffmail.com

Date of Publication: 1st October 2017
Rs. 15.00 (Monthly) Registered: SSP/PY/47/2015-2017
RNI No.18135/70 WPP No.TN/PMG/(CCR)/WPP-472/15-17

A school by The Vatika Group vatika

Nature Friendly

"My child is in Grade 2. My son's journey with this school started 3 years back.

What really drew me to the school at the first instance is the calmness that prevails in the atmosphere!

Being a doctor myself, it was very important for me that the school environment should be healthy – class rooms in MatriKiran are the most nature friendly, spacious, well ventilated, they open out to green spaces... perfect to stay in communion with nature."

Dr. Nidhi Gogia
Mother of Soham Sharma, Grade 2

ADMISSIONS OPEN
Academic Year 2017-18

ICSE Curriculum

MatriKiran
www.matrikiran.in

Junior School SOHNA ROAD
Pre Nursery to Grade 5

Senior School VATIKA INDIA NEXT
Grade 6 to Grade 9

Junior School
W Block, Sec 49, Sohna Rd, Gugaon
+91 124 4938200, +91 9650690222

Senior School
Sec 83, Vatika India Next, Gugaon
+91 124 4681600, +91 9821786363